श्री बाबू निर्मल कुमार जैन
की ओर से भेंट

जैन-सिद्धान्त-भास्कर

भाग १० किरण १

THE JAINA ANTIQUARY

Vol. IX. No. I.

No-056846
Lo-42.13

Edited by

Prof. Hiralal Jain, M. A., LL.B.
Prof. A. N. Upadhye, M. A., D. Litt.
B. Kamata Prasad Jain, M. R. A. S.
Pt. K. Bhujabali Shastri, Vidyabhushana.

PUBLISHED AT
THE CENTRAL JAINA ORIENTAL LIBRARY
[JAINA SIDDHANTA BHAVANA]
ARRAH, BIHAR, INDIA.

JUNE, 1943.

जैन-सिद्धान्त-भास्कर के नियम

१ 'जैन-सिद्धान्त-भास्कर' हिन्दी षाण्मासिक पत्र है, जो वर्ष में जून और दिसम्बर में दो भागों में प्रकाशित होता है।

२ 'जैन-एन्टीक्वेरी' के साथ इसका वार्षिक मूल्य देशके लिये ३) और विदेश के लिये ३॥) है, जो पेशगी लिया जाता है। १॥) पहले भेज कर ही नमूने की कापी मंगाने में सुविधा रहेगी।

३ इसमें केवल साहित्य-संबन्धी या अन्य भद्र विज्ञापन ही प्रकाशनार्थ स्वीकृत होंगे। प्रबन्धक 'जैन-सिद्धान्त-भास्कर' आरा को पत्र भेजकर दर का ठीक पता लगा सकते हैं; मनीआर्डर के रुपये भी उन्हीं के पास भेजने होंगे।

४ पते में परिवर्तन की सूचना भी तुरन्त आरा को देनी चाहिये।

५ प्रकाशित होने की तारीख से दो सप्ताह के भीतर यदि 'भास्कर' प्राप्त न हो, तो इसकी सूचना शीघ्र कार्यालय को देनी चाहिये।

६ इस पत्र में अत्यन्त प्राचीनकाल से लेकर अर्वाचीन काल तक के जैन इतिहास, भूगोल, शिल्प, पुरातत्त्व, मूर्त्ति-विज्ञान, शिला-लेख, मुद्रा-विज्ञान, धर्म्म, साहित्य, दर्शन प्रभृति से संबंध रखने वाले विषयों का ही समावेश रहेगा।

७ लेख, टिप्पणी, समालोचना आदि सभी सुन्दर और स्पष्ट लिपि में लिखकर सम्पादक 'जैन-सिद्धान्त-भास्कर' आरा के पते से आने चाहिये। परिवर्त्तन के पत्र भी इसी पते से आने चाहिये।

८ किसी लेख, टिप्पणी आदि को पूर्णतः अथवा अंशतः स्वीकृत अथवा अस्वीकृत करने का अधिकार सम्पादकों को होगा।

९ अस्वीकृत लेख लेखकों के पास विना डाक-व्यय भेजे नहीं लौटाये जाते।

१० समालोचनार्थ प्रत्येक पुस्तक की दो प्रतियाँ 'जैन-सिद्धान्त-भास्कर' कार्यालय आरा के पते से ही भेजनी चाहिये।

११ इस पत्र के सम्पादक निम्न-लिखित सज्जन हैं जो अवैतनिकरूप से केवल जैनधर्म की उन्नति और उत्थान के अभिप्राय से कार्य्य करते हैं :—

प्रोफेसर हीरालाल, एम.ए., एल.एल.बी.

प्रोफेसर ए. एन. उपाध्ये, एम. ए., डी. लिट.

बाबू कामता प्रसाद, एम.आर.ए.एस.

पण्डित के. भुजबली शास्त्री, विद्याभूषण.

जैन-सिद्धान्त-भास्कर

जैन-पुरातत्त्व-सम्बन्धी षाण्मासिक पत्र

भाग १०] [किरण १

सम्पादक

प्रोफेसर हीरालाल जैन, एम. ए., एल-एल. बी.
प्रोफेसर ए० एन० उपाध्ये, एम.ए., डी. लिट्.
बाबू कामता प्रसाद जैन, एम. आर. ए. एस.
पं० के० भुजबली शास्त्री, विद्याभूषण.

जैन-सिद्धान्त-भवन आरा-द्वारा प्रकाशित

भारत में ३) विदेश में ३॥) एक प्रति का १॥)

वि० सं० २०००

विषय-सूची

पृष्ठ सं०

१ विजयनगर के जैन शिलालेख—[ले० श्रीयुत बा० कामता प्रसाद जैन, एम० आर० ए० एस० ... ... १

२ पार्श्वदेवकृत संगीतसमयसार'—[ले० श्रीयुत बा० अ० नारायण मोरेश्वर खरे ... ९

३ खगेन्द्रमणिदर्पण—[ले० श्रीयुत पं० के० भुजबली शास्त्री, विद्याभूषण ... १८

४ तुलु देश में जैनधर्म—[ले० श्रीयुत डा० बी० ए० सालेतोर एम० ए०, पी०-एच०डी० २१

५ जैन कविताओं में ऐतिहासिक प्रसंग—[ले० श्रीयुत कालीपद मित्र, एम० ए० .... २५

६ पूर्व और पश्चिम में दर्शन की धारणा—[ले० श्रीयुत देवराज, एम० ए०, डी० फिल० ३४

७ जैनियों की दृष्टि में विक्रमादित्य—[ले० श्रीयुत पं० के० भुजबली शास्त्री, विद्याभूषण; प्रोफेसर श्रीयुत देवसहाय, त्रिवेद, एम० ए० ... ३७

८ समीक्षा—

(क) भारतीय दर्शन—देवराज [एम० ए०; डि० फिल०] ४३

(ख) अर्द्धकथा—देवसहाय, त्रिवेद [ए० एम०] ४४

(ग) धर्म का आदि प्रवर्त्तक— | —कमलाकान्त उपाध्याय [व्याकरण-साहित्य-वेदान्ताचार्य, काव्यतीर्थ] ४५

(घ) पावन-प्रवाह— ४६

(ङ) शान्त-शृङ्गार-विलास— ४७

(च) वर्द्धमानपुराण—बनारसी प्रसाद भोजपुरी [साहित्यरत्न] ४७

९ जैन-सिद्धान्त-भवन का वार्षिक विवरण—[मन्त्री] ४८

परिशिष्ट

भुजबलिचरितम्—दोड्डय्य सं०—श्रीयुत पं० के० भुजबली शास्त्री, विद्याभूषण ...

श्रीजिनाय नमः

जैन सिद्धान्त-भास्कर

जैनपुरातत्त्व और इतिहास-विषयक षाण्मासिक पत्र

भाग १० | जून, १९४३। ज्येष्ठ, वीर नि० सं० २४६९ | किरण १

विजयनगर के जैन शिलालेख

[ले० श्रीयुत बा० कामता प्रसाद जैन, एम० आर० ए० एस]

मद्रास प्रान्त के वर्तमान बल्लारि ज़िले में तालुका होसपेटे में हम्पि नामक ग्राम है। एक समय यही अन्तिम हिन्दू साम्राज्य की राजधानी विजयनगर इठलाती नज़र आती थी। आज वह धराशायी है। विजयनगर को सम्राट् देवराय ने सन् १३३६ ई० में बसाया था। यह बड़ा ही विशाल नगर था। आज उसके ध्वंसावशेष नौ वर्गमील में फैले हुए हैं। अनेक विदेशी यात्रियों ने इस नगर के दर्शन करके मुक्तकंठ से प्रशंसा लिखी है। सन् १४४२ ई० में अब्दुल रज्ज़ाक़ नामक यात्री ने विजयनगर को देखकर लिखा है कि [1] वैसा नगर कभी दृष्टि में नहीं आया और बुद्धि को यह कभी सुनाई न पड़ा कि दुनियां में उसकी बराबरी का कोई नगर था। यह नगर सात कोटों में बसा हुआ था। सातवें कोट में राजमहल थे। प्रत्येक वर्ग के व्यापारी वहां थे। हीरा, लाल, मोती आदि खुले बाज़ार बिकते थे। अमीर और ग़रीब सभी जवाहरात के कंठे, कुंडल और अंगूठियां पहनते थे। पंद्रहवीं शताब्दि में दमश्क (सिरिया) से निकोलो कॉन्टि (Nicolo Conti) नामक यात्री भारत आया था और उसने विजयनगरको देखा था। उसे वह पर्वतों के निकट बसा हुआ विशाल नगर बताता है। वह नगर साठ मील के क्षेत्र में विस्तृत था और उसकी दीवालें पर्वतों से बातें करतीं थी—बहुत ही ऊँची थी।[2] इन उल्लेखों से पाठक विजयनगर की विशालता और महत्ता का अनुमान कर सकते हैं! किन्तु कुटिल काल महान् व्याल है—उसके वार से कोई नहीं बचता! विजयनगर

1. "The city of Bidjanagar is such that pupil of the eye has never seen a place like it, and the ear of intelligence has never been informed that there existed anything to equal it in the world. It is built in such a manner that seven citadels and the same number of walls enclose each other etc."—Major, "India in the fifteenth century" (London), pp. 23–26.

2. Ibid. pt II p 6.

भी नहीं बचा—उसके खंडहर आज लौकिक अनित्यता का दिग्दर्शन करा रहे हैं। इन खंडहरों में कम्पली को जाती हुई सड़क पर सबसे पहला ध्वंसावशेष एक जैन मंदिर का है, जो 'गाणिगित्ति-वसति' नाम से प्रसिद्ध था। 'गाणिगित्ति' कहते हैं तेलिन को। अतः हो सकता है कि इस मंदिर को किसी धर्मात्मा तेलिन ने किसी तरह से अपनाया होगा—संभव है कि उसने इसका जीर्णोद्धार कराया हो—इसीलिये वह उसके नाम से प्रख्यात हो गया। वरन् शिलालेख से प्रकट होता है कि इस मंदिर को सेनापति इरुगप्प ने बनवाया था। इस मंदिर के सम्मुख एक दीपस्तम्भ है—उस दीपस्तम्भ पर शिलालेख अङ्कित है। शिलालेख में संस्कृत भाषा के २८ श्लोक हैं और प्रारंभिक दो मंगलसूचक श्लोकों में श्री जिनराज और जिन-शासन को स्मरण किया गया है। उपरान्त सिंहनन्दी मुनिराज की परम्परा निम्नप्रकार लिखी है:—

मूलसंघ-नन्दिसंघ-बलात्कारगण-सारस्वतगच्छ

|

पद्मनन्दी

|

भट्टारक धर्म्मभूषण प्रथम

|

अमरकीर्ति

|

सिंहनन्दी गणभृत्

|

भट्टारक धर्म्मभूषण

|

वर्द्धमान

|

भट्टारकमुनि धर्म्मभूषण द्वितीय

इन गुरुओं का उल्लेख शिलालेख में 'आचार्य'—'आर्य'—'गुरु'—'देशिक'—'मुनि' और 'योगीन्द्र' विशेष नामों से हुआ है। उपरान्त विजयनगर राजवंश के दो राजाओं अर्थात् यादव राजवंशोद्भूत बुक्कराय और उनके पुत्र हरिहर द्वितीय का वर्णन है। हरिहर के परम्परीण प्रधान मंत्री दंडाधिनायक बैच अथवा बैचप्प थे। बैचप्प के पुत्र दंडेश अथवा क्षितीश या धारणीश (Prince) इरुग अथवा इरुगप्प थे; जिनके गुरु आचार्य सिंहनन्दी थे। शक १३०७, क्रोधन संवत् में इरुग ने विजयनगर में कुंथुजिननाथ का पाषाण मंदिर निर्माण कराया। विजयनगर कर्णाटक देश के कुन्तल प्रान्त में अवस्थित था। सबसे पहले यह शिलालेख सन् १८३६ में 'ऐशियाटिक रिसर्चेज' (भा० २० पृ० ३६) पत्रिका में प्रकाशित हुआ था। उपरान्त सन १८९० में डॉ० हल्श सा० ने इसका सम्पादन आर्कालॉजिकल सर्वे ऑव इंडिया भा० ३ में किया था।

पाठकों के अवलोकनार्थ हम उस शिलालेख को वहांसे सधन्यवाद उपस्थित करते हैं :—

मूल शिलालेख :—

(१) यत्पादपंकजरजो रजो हरति मानसं । स जिनः श्रेयसे
(२) भूयाद्भूयसे करुणालयः ॥ (१) श्रीमत्परमगंभीर-
(३) स्याद्वादामोघलांच्छनं । जीयात्त्रैलोक्यनाथ-
(४) स्य शासनं जिनशासनं ॥ [२] श्रीमूलसंघेजनि नंदिसंघ-
(५) [स्त] स्मिन् बलात्कारगणोति रम्यः । तत्रापि सारस्वतनाम्नि गच्छे स्वच्छाशयोभूदि-
(६) ह पद्मनंदी ॥ [३] आचार्यः कुंड [कुंदा] ख्यो वक्रग्रीवो महामतिः ।येलाचा-
(७) र्य्यो गृद्धपिंच्छ इति तन्नाम पंचधा ॥ [४] केचित्तदन्वये चारुमुनयः खन-
(८) यो (?) गिरां [।] जलधाविव रत्नानि बभूवुर्दिव्यतेजसः ॥ [५] तत्रासीच्चारुचारित्रर-
(९) त्नरत्नाकरो गुरुः । धर्म्मभूषणयोगींद्रो भट्टारकपदांचितः ॥[६]
(१०) भाति भट्टारको धर्म्मभूषणो गुणभूषणः । यद्यशः कुसुमामो-
(११) दे गगनं भ्रमरायते ॥ [७] सिष्यस्तस्य मुनेरासीदगर्गलतपोनिधिः । श्रीमान
(१२) मरकीर्त्यार्य्यो देशिकाग्रेसरः शमी ॥ [८] निजपक्ष्मपुटकवाटं घटइत्वानिलनिरोध-
(१३) [तो] हृदये । अविचलितबोधदीपं तममरकीर्त्तिं भजे तमोहरं ॥ [९] केपि
(१४) स्वोदरपूरणे परिणता विद्याविहीनांतरा योगीशा भुवि संभवंतु बहु-
(१५) वः किं तैरनंतैरिह । धीरः स्फूर्ज्जति दुर्ज्जयातनुमदध्वंसी गुणैरुर्जि-
(१६) तैराचार्य्योमरकीर्त्तिशिष्यगणभृच्छ्रीसिंहनंदी व्रती ॥ [१०] श्रीधर्म्मभूषोजनि त-
(१७) स्य पट्टे श्रीसिंहनंद्याचार्य्यगुरोस्सधर्मा । भट्टारकः श्रीजिनधर्म्महर्म्यस्तंभा-
(१८) यमानः कुमुदेंदुकीर्त्तिः ॥ [११] पट्टे तस्य मुनेरासीद्वर्द्धमानमुनीश्वरः । श्रीसिं-
(१९) हनंदियोगींद्रचरणांभोजषट्पदः ॥ [१२] सिष्यस्तस्य गुरोरासीद्धर्म्मभूषण-
(२०) देशिकः । भट्टारकमुनिः श्रीमान् शल्यत्रयविवर्जितः ॥ [१३] भट्टारकमुनेः पादावपू-
(२१) र्व्वकमले स्तुमः । यदग्रे मुकुलीभावं यांति राजकराः परं ॥ [१४] एवं गुरुप-
(२२) रंपरायामविच्छेदेन वर्त्तमानायां ॥ आसीदसीममहिमावंशे यादव-
(२३) भूभृतां [।] अखंडितगुणोदारः श्रीमान्बुक्कमहीपतिः ॥ [१५] उदभूद्भूभृतस्तस्मा-
(२४) द्राजा हरिहरेश्वरः । कलाकलापनिलयो विधुःक्षीरोदधेरिव ॥ [१६] यस्मिन् भर्त्तरिभू-
(२५) पाले विक्रमाक्रांतविष्टपे । चिराद्राजन्वती हंत भव (त्येषा) वसुंधरा ॥ [१७] तस्मिन् शा-
(२६) सति राजेंद्रे चतुरंबुधिमेखलां । धरामधरिताशेषपुरातनमहीपतौ । [१८] आसीत्त-
(२७) स्य महीजानेः शक्तित्रयसमन्वितः कुलक्रमागतो मंत्री बैचदंडाधिनायकः ॥ [१९] द्वि-
(२८) तीयमंतःकरणं रहस्ये बाहुस्तृतीयस्समरांगणेषु । श्रीमान्महाबैच (प) ।

(?) 'खनयो गिरा' का अर्थ हल्श सा० ने 'Mines of speeches' किया है।

(२९) दंडनाथो जागर्त्ति कार्य्ये हरिभूमिभर्तुः ॥ [२०] तस्य श्रीबैचदंडाधिनायकस्यो-❀

(३०) [र्जि] तश्रियः । आसीदिरुगदंडेशो नंदनो लोकनंदनः ॥ [२१]

न मूर्त्ता नामूर्त्ता निखिलभु-

(३१) वनाभोगिकतया शरद्राजद्राकाविटनिटिलनेत्रद्युतितया । प्रभूता कीर्त्तिस्सा चिर-

(३२) मिरुगदंडेशःकथयत्यनेकांतात्कांतात्परमिह न किंचिन्मतमिति ॥ [२२] सद्वंशजोपि गुण-

(३३) वानपि मार्गणानामाधारतामुपगतोपि च यस्य चापः । नम्रः परान्विनमयन्नि-

(३४) रुगक्षितीशस्येोच्चैर्ज्जनाय खलु सिक्षयतीव नीतिं [२३] हरिहरधरणीशभाज्यसाम्रा-

(३५) ज्यलक्ष्मीकुवलयहिमधामा शौर्य्यगांभीर्य्यसीमा । इरुगपधरणीशस्सिंह-

(३६) नंद्याद्यैर्वद्यैर्यप्रदन [लि] नभृङ्गस्स प्रतापैकभूमिः ॥ [२४] स्वस्ति शकवर्षे १३०७

(३७) प्रवर्त्तमाने क्रोधनवत्सरे फाल्गुनमासे कृष्णपक्षे द्वितीयायां तिथौ शुक्रवारे ॥अस्ति वि-

(३८) स्तीर्ण्णकर्णाटधरामंडलमध्यगः । विषयः कुंतलो नाम्ना भूकांताकुंतलोप-

(३९) मः ॥ [२५] विचित्ररत्नरुचिरं तत्रास्ति विजयाभिधं ।

नगरं सौधसंदोहदर्शिताकांडचंद्रिकं ॥ [२६]

(४०) मणिकुट्टिमवीथीषु मुक्तासैकतसेतुभिः । दा नं] बूनि निरुंधाना यत्र क्रीडंति बालिकाः ॥ [२७]

(४१) तस्मिन्निरुगदण्डेशः पुरे चारु शिलामयं । श्रीकुंथुजिननाथस्य चैत्यालयमचीकरत् ॥[२८]

(४२) भद्रमस्तु जिनशासनाय ॥

इस शिलालेख के ३रे-४थे पद्यों से आचार्य पद्मनन्दी के पांच अपरनाम (२) कुंडकुंद, (२) वक्रग्रीव, (३) महामति, (४) एलाचार्य और (५) गृद्धपिच्छ प्रकट होते हैं। भ० धर्मभूषणादि के ज्ञानादि गुणों का बखान है। दशवें श्लोक में उन साधुवेषियों पर आक्षेप किया है जो ज्ञान से रहित थे और केवल अपना पेट भरना जानते थे। भ० सिंहनन्दी को ११ वें श्लोक में जिनधर्मरूपी पवित्र प्रासाद का स्तम्भ कहा है। १३-१४ श्लोकों से भ० धर्मभूषण द्वि० की विद्वत्ता प्रकट है—उनका अपरनाम भट्टारकमुनि था—राजा लोग उनके समक्ष करबद्ध उपस्थित रहते थे। दंडाधिप बैच तीन शक्तियों (प्रभाव, उत्साह, मंत्र) से युक्त थे। रणक्षेत्र में वह राजा हरिहर के तीसरे हाथ थे। इन्हीं के पुत्र इरुग थे, जिन्होंने लोक का मनोरंजन किया था। उनकी कीर्ति लोक व्यापी थी और वह स्याद्वादमत की सर्वोत्कृष्टता का उच्च घोष करती थी। श्लोक २३ से प्रकट है कि दंडेश इरुग का धनुष लोगों को सम्यग्चारित्र की शिक्षा देता है। हरिहर की राज्य लक्ष्मी को श्रीवृद्धि उन्होंने की थी। सिंहनन्दी गुरु के चरणों के वह भक्त थे। २६-२७ वें श्लोकों में विजयनगर की विशालता का चित्रण है, जो रत्नों से जाज्वल्यमान थी। वहां की सड़कों पर बहुमूल्य रत्न जड़े थे। वहीं इरुग ने कुंथुजिनालय बनवाया था।

❀ डॉ० हल्श ने बैच को चैच पढ़ा है; यथार्थ नाम बैचप्प है।

विजयनगर के खंडाहरों में एक जीर्ण शीर्ण मंदिर और है। उसके मुख्य प्रवेशद्वार पर निम्नलिखित शिलालेख अङ्कित है जो वहां सर्व प्राचीन है :—

(१) शुभमस्तु ॥ श्रीमत्परमगंभीरस्याद्वादामोघलांथनं (।) जीयात्त्रैलोक्यनाथस्य शासनं जिनशासनं ॥ (१) श्रीमद्यादवान्वयान्नंवपूर्न्नचंद्रस्य (!) श्रीबुक्कक्ष्मा भुज (:) पुंण्य (परिपा)-

(२) करिणतमूर्त्तेस्सत्कीर्त्तेर्हरिहरमहाराजस्य पर्य्यायावतारादीरादेवराजादिव विजयश्रीवीर विजयनृपतिस्संजातस्त-

(३) त्माद्रोहणाद्रेरिव महामाणिक्यकांडो नीतिप्रतापस्थिरीकृतसाम्राज्यसिंहासनः। राजाधिराजराजपरमेश्वरादिविरुदविख्यातो गुणनिधिरभि-

(४) नवदेवराजमहाराजो निजाज्ञापरिपालितकर्न्नाटदेशमध्यवर्त्तिनः स्वावासभूतविजयनगरस्य कुमुकपर्न्नापणवीथ्यामाचंद्रतारमात्मकी-

(५) र्त्तिधर्म्मप्रवृत्तये। सकलज्ञानसाम्राज्यविराजमानस्य स्याद्वादविद्याप्रकटनपटीयसः पार्श्वनाथस्यार्हतः शिलामयं चैत्यालयमचीकरत् (॥)

(६) देशः कर्नाटनामा भूदावासः सर्व्वसंपदां। विडंबयति यः स्वर्गं पुरोडा शाशनाश्रयं ॥ (२) विजयनगरीति तस्मिन्नगरी नगरीति-

(७) रम्यहर्म्यास्ते। नगरिषु नगरी यस्या न गरीयस्येव गुरुभिरैश्वर्य्यैः ॥ (३) कनकोज्ज्वलसालरश्मिजालैः परिखांबुप्रतिबिंबतैरलं य (।)

(८) वसुधेव विभाति बाडबार्च्चिर्वृतरत्नाकरमेखलापरीता ॥ श्रीमानुद्दामधामा यदुकुलतिलकस्सारसौंदर्य्यसीमाधीमान्नामा-

(९) भिरामाकृतिरवनितले भाति भाग्यात्तभूमा (।) विक्रांत्याक्रांतदिक्को विमतधरणिभृत्पंकजश्रेणिविक्कः (।) क्षोण्यां जागर्त्ति बुक्काक्षितिपति-

(१०) रसिभूभृत्क्षिरशिधत्पृषत्कः ॥ (४) तत्प्राप्तात्मावतारस्फुरति हरिहरक्ष्मापतिज्ञप्तिसारो दारिद्र्यस्फारवाराकरतरणविधौ विस्फुरत्कर्णधारः। भू-

(११) दानस्वर्णदानानुकृतपरशुधृत्पद्मिनीबंधुसूनुस्फाराकूपारतीरावलिनिहितजयस्तंभविन्यस्तकीर्त्तिः ॥ (५) तेनाजन्यरिराजतल्लजशिर-

(१२) स्तोमस्फुरच्छेखरप्रत्युप्तोपलदीपिकापरिणमत्पादाब्जनीराजनः। विद्वत्कैरवमंडलीहिमकरो (वि) ख्यातवीर्य्याकर (:) श्रेयान्वीरर-

(१३) मास्वयंवृतवरः श्रीदेवराजेश्वरः ॥ (६) तज्जन्मास्मिन्वदान्यो ज (ग) ति विजयते पुण्यचारित्रमान्यो दानध्वस्तार्त्थिदैन्यो विजयनरपतिः खं-

(१४) डितारा (ति) सैन्यः। प्रत्युद्यज्जैत्रयात्रासमसमयसमद्भूतकेतुप्रसूत(स्फा)य(द्वा)त्योपहत्याप्रतिहतविमतौघप्रतापप्रदीपः ॥ (७)

(१५) तस्मादस्माज्जितात्माजनि जगति यथा जंभजेतुर्ज्जयंतो राजा श्रीदेवराजो विजयनृपति-
वाराशिराकाशशांकः । कोपाटोपप्रवृत्तप्रबलरणमिलद्विप्रतीपक्ष-

(१६) मापप्राणश्रेणिनभस्वन्निवहकबलनव्यग्रखड्गोरगेंद्रः ॥ (८) वीरश्रीदेवराजो विजयनृपताप-
स्सारसंजातमूर्त्तिर्भर्त्ता भूमेर्ब्बिभाति प्रणतरिपुततेरार्त्तिजातस्य हर्त्ता ।

(१७) क्रूरक्रोधेद्धयुद्धोद्धरकरटिघटाकर्णशूर्य्यप्रसर्प्पद्वातव्रातोपघातप्रतिहतविमतादभ्रभुत्यभ्रसंघः ॥
(९) यद्धाटीघोरघोटीखुरदलितधरारेणुभिर्व्वीर्य्यवन्हेर्द्धू-

(१८) म (स्तो) मायमानैः प्रतिनृपतिगणस्त्रीदृशः साश्रुधारा । प्रोद्यद्दर्प्पप्रभूतप्रतिभटसुभटा-
स्फोटनाटोपजाग्रद्रोषोत्कर्षांधकारद्युमणिरुदयते देवराजेश्वरोयं ॥ (१०)

(१९) विश्वस्मिन्विजयत्तितीशजनुषः श्रीदेवराजेशितुर्ल्लक्ष्मीं कीर्त्तिसितांबुजं कलयते शौर्य्याख्य
सूर्य्योदयात् । आशा यत्र पलाशतामुपगताः ।

(२०) स्वर्ण्णाचलः करिर्ण्णकाभृङ्गा दिक्षु मतंगजा जलधयो मारंदबिंदूत्कराः ॥ (११) विख्याते
विजयात्मजे वितरति श्रीदेवराजेश्वरे कर्ण्णस्याजनि व-

(२१) र्ण्णना विगलिता वाच्या दधीच्यादयः । मेघानामपि मोघता परिणता चिंता न चिंताम
(णे) : स्वल्पाः कल्पमहीरुहाः प्रथयते स्वर्णैंचिकी नीचतां ॥ (१२)

(२२) सोयं कीर्त्तिसरस्वती वसुमतीवाणीवधूभिस्समं भव्यो दीव्यति देवराजनृपतिर्भूदेवदिव्य
द्रुमः । यशौरिर्ब्बलियाचनाविरहितश्चंद्रः कलं-

(२३) कोज्झितः शक्रस्सत्यमगोत्रभिद्दिनकरश्चासत्पथोल्लंघनः ॥ (१३) मदनमनोहरमूर्त्तिः महिला-
जनमानसारसंहरणः । राजाधिराजराजादिमपदपरमेश्वरादिनि-

(२४) जबिरुदः ॥ (१४) शक्तौ बुक्कमहीपालो दाने हरिहरेश्वरः । शौर्य्ये श्रीदेवराजेशो ज्ञाने
विजयभूपतिः । (१५) सोयं श्रीदेवराजेशो विद्याविनयविश्रुतः । प्रा-

(२५) गुक्तपुरवीथ्यंतः पर्ण्णपूगीफलापणे ॥ (१६) शाकेब्दे प्रमिते याते वसुसिंधुगुणेंदुभिः । पराभ-
वाब्देकार्त्तिक्यां धर्म्मकीर्त्तिप्रवृत्तये ॥ (१७) स्या-

(२६) द्वादमतसमर्थं (न) खर्व्वितदुर्व्वादिगर्व्ववाग्विततते (:) । अष्टादशदोषमहामदगज निकुरंब-
महितमृगराजः ॥ (१८) भव्यांभोरुहभानोरिन्द्रादिसु-

२७ रेंद्रवृंदवंद्यस्य । मुक्तिवधूप्रियभर्त्तुः श्रीपार्श्वजि (ने) श्वरस्य करुणाब्धेः ॥ (१९) भव्य-
परितोषहेतुं शिलामयं सेतुमखिलधर्म्मस्य । चैत्यागारमचीकर-

(२८) दाधरणिद्युमणिहिमकरस्थैर्य्यं ॥ (२०)

इस लेख से प्रकट है कि शक सं० १३४८ पराभव वर्ष में विजयनगर की पानसुपारी नामक गली में महाराजाधिराज देवराज द्वितीय ने श्री अर्हत् पार्श्वनाथ का पाषाण का एक चैत्यालय बनवाया था। लेख में विजयनगर के यादववंशी राजाओं की वंशावली निम्न प्रकार दी है:—

१ यदुकुल के नृपति बुक्क;

२ उनके पुत्र हरिहर (द्वितीय) महाराज हुये;

३ उनके पुत्र देवराज (प्रथम) हुये;

४ उनके पुत्र विजय या वीरविजय हुये;

५ उनके पुत्र देवराज (द्वितीय) अथवा अभिनवदेवराज या वीरदेवराज महाराज, राजाधिराज, राजपरमेश्वर आदि हुये।

सम्राट् देवराज द्वि० के राज्यकाल में ही अब्दुल रज्ज़ाक़ नामक यात्री आया था। उसे समरकन्द के शाहरुख ने एलची के रूप में भेजा था। इस यात्री ने देवराज द्वि० के निम्न-लिखित सिक्के लिखे हैं:—

१ स्वर्ण:—(१) वराह, (२) परताब = ½ वराह. (३) फनम् = $\frac{1}{10}$ परताब।

२ चांदी:—तार = $\frac{1}{8}$

तांबा:—जीतल = ½ तार। इन सिक्कों पर हाथी या बैल का चिन्ह होता था और 'श्रीप्रतापदेवराय' लिखा रहता था। वराह pagoda के रूपमें होते थे। देवराज ने अपने साम्राज्य की नींव अपनी कुशल राजनीति और भुजविक्रम से सुदृढ़ बना दी थी। अपनी कीर्त्ति और पुण्यधर्म को यावद्चंद्रदिवाकर स्थायी करने के लिये उन्होंने उपर्युल्लिखित जिनमंदिर बनवाया था। म० पार्श्वनाथ को ज्ञान साम्राज्य का अधिनायक और स्याद्वाद का प्रचारक लिखा है। सम्राट् हरिहर द्वि० ने अपनी दिग्विजय के स्मारक रूप समुद्र तटके किनारे जयस्तंभों की कतार निर्मापी थी। देवराज की तलवार शत्रुओं के नाश करने के लिए हर समय तैयार रहती थी। शरणागत शत्रुओं को वह क्षमा कर देते थे। उनकी हाथियों की सेना के कान हिलाने से ही शत्रु दल उड़ जाता था। उनकी शरीराकृति कामदेव सदृश सुंदर थी। उनका गुत्ति नामक दुर्ग (Gooty in the Anantpur distt) प्रख्यात था। इस प्रकार विजय-नगर में जैनधर्मका प्रभाव फैला हुआ था।*

* गत मार्च में मैं स्वयं हम्पि गया था। राजमहल, रानीवास, दरबार हाल आदि यहाँ के वर्तमान ध्वंसावशेषों को देखकर सहृदय दर्शकों के नेत्र तत्काल ही भर आते हैं। हम्पि के महत्त्वपूर्ण प्राचीन इतिहास से अपरिचित एक साधारण विचारशील दर्शक भी इन ध्वंसावशेषों को देखकर इसके गत वैभव को आसानी से परख लेगा। हम्पि के प्राचीन स्मारकों में यहाँ के जैन मन्दिर ही सर्व प्राचीन हैं। 'Hampi Ruins' 'विजयनगर साम्राज्य' आदि रचनाओं के विज्ञ रचयिताओं के कथनानुसार ये भव्य मन्दिर विजयनगर साम्राज्य के स्थापित होने के पूर्व ही विद्यमान थे। मन्दिरों की बनावट आदि से भी यह बात सत्य सिद्ध होती है। बल्कि जहाँ पर ये मन्दिर विराजमान हैं, वह स्थान इतना सुन्दर है कि

इसे नगर की नाक कहा जाय तो भी अत्युक्ति नहीं होगी। घंटों बैठने पर भी यहाँ से हटने की इच्छा ही नहीं होती। हम्पि के शिलामय ये भव्य मन्दिर उन्नत एवं विशाल एक चट्टान के ऊपर एक ही पंक्ति में सुन्दर ढंग से निर्मित हैं। इन मन्दिरों के नीचे थोड़ी ही दूर पर वह पुराना विशाल राजपथ मौजूद है, अब्दुल रज़ाक के शब्दों में जिसमें उस जमाने में मोती, लाल, हीरा आदि बहुमूल्य रत्न बिका करते थे। बल्कि इसी राजपथ में हम्पि का सुविख्यात, विशाल विरूपाक्ष मन्दिर वर्तमान है। उक्त जैन मन्दिर और इस विरूपाक्ष मन्दिर के बीच में भी दो-चार छोटे-छोटे अन्यान्य हिन्दू मन्दिर उपस्थित हैं। इस विशाल राजपथ में आज भी उस जमाने के बहुत-से शिलामय भवनों के भग्नावशेष नज़र आते हैं। राजवीथि से थोड़ी ही दूर पर पूर्व दिशा में तुंगभद्रा नदी सुशान्त हो बह रही है। नदी के उस पार सघन जंगल बीच-बीच के बड़े-बड़े चट्टानों से दर्शकों को बड़ा ही चित्ताकर्षक मालूम देता है। इसी हम्पि को प्राचीन पम्पा कहते हैं, जहाँ पर रामायण काल में हनुमान ने राम-लक्ष्मण से भेंट की थी। खैर, हम्पि के विषय में यथावकाश मैं एक स्वतन्त्र लेख ही लिखूँगा। बल्कि 'जैन-सिद्धान्त-भास्कर' भाग २, पृष्ठ १३२ में 'विजयनगर साम्राज्य और जैनधर्म' शीर्षक मेरा एक लेख पहले प्रकाशित हो भी चुका है।

—के० भुजबली शास्त्री

पार्श्वदेवकृत 'संगीतसमयसार'

[ले० श्रीयुत बा० अ० नारायण मोरेश्वर खरे]

अनु० शान्तिलाल जैन, शास्त्री, बनारस

[भाग ६, किरण २, पृष्ठ ६० से आगे]

संगीतरत्नाकर में भी लिखा है कि मालवकैशिक ग्रामराग से ही मालवश्री की उत्पत्ति हुई है। उसका लक्षण इस प्रकार है।

.....मालवश्रीस्तदुद्भवा ।
समस्वरा तारमन्द्रषड्जांशन्यासषड्जभाक् ॥ सं. रत्नाकर २-७२

८. वराटी

विभाषा रागराजस्य पंचमस्य वराटिका ।
धांशा षड्जग्रहन्यासा धतारा मन्द्रमध्यमा ।
समश्लेषस्वरा पूर्णा शृंगारे याष्टिकोदिता ॥ सं. समयसार

संगीतसमयसार के कर्त्ता "याष्टिक" की वराटी राग की व्याख्या देते हैं। संगीतरत्नाकर की व्याख्या के अनुसार वराटीराग "भिन्नपंचम" ग्राम राग में से उत्पन्न हुआ है—

.....वराटी स्यात्तदुद्भवा ।
धांशा षड्जग्रहन्यासा समन्द्रा तारधैवता ।
समेत(समवेत)स्वरा गेया शृंगारे शार्गिसम्मता ॥ सं. रत्नाकर, २-८६

दोनों के लक्षण समान हैं, केवल मन्द्र व्याप्ति में अन्तर है।

९. गौडः

गौडः स्याट्टक्करागांगं निन्यासांशग्रहान्वितः ।
वर्जितः पंचमेनैव रसे वीरे नियुज्यते ।
रागे रंगनिषादिन्या वदन्ति न तु मे मतम् ॥ सं. समयसार

रत्नाकर में टक्क राग के नीचे गौड़ राग का लक्षण इस प्रकार दिया है—

गौडस्तदंगविन्यासग्रहांशः पंचमोज्झितः । सं. रत्नाकर, २-९२

गौड़ राग के लक्षण में दोनों ग्रन्थकार अपनी अपनी व्याख्या में पंचम को वर्जित मानते हैं, परन्तु रत्नाकर की व्याख्या में 'विन्यास' शब्द है। वहां 'नी-न्यास' ऐसा शब्द होना चाहिए। यदि संगीतसमयसार के लक्षण की परीक्षा करें तो उसमें यह स्पष्ट ही है कि केवल ग्रह, अंश, न्यास और स्वर बदलने से राग का स्वरूप ही भिन्न हो जाता है।

१०. धन्नासी

अंगं धन्नासिका प्रोक्ता शुद्धकैशिकमध्यमे ।
षड्जांशग्रहमन्यासा षाडवा ऋषभोज्झिता ।
गान्धारपंचमस्वल्पा रसे वीरे नियुज्यते ॥ सं. समयसार

सं. रत्नाकर में "शुद्धकैशिक मध्यम म ग्रामराग" के नीचे धन्नासी की व्याख्या इस प्रकार दी है—

तज्जा धन्नासिका षड्जग्रहांशन्यासमध्यमा ।
रिवर्जिता गपाल्पा च वीरे धीरैः प्रयुज्यते ॥ सं. रत्नाकर, २-१००

दोनों के लक्षण एक ही हैं ।

११. गुणडकृतिः

देशहिन्दोलरागांगं षड्जांशन्याससंयुता ।
रिधत्यक्ता गतारा च शेषैरान्दोलिता स्वरैः ॥
पमन्द्रा हास्यशृंगारे गेया गुणडकृतिर्भवेत् ॥ सं. ससयसार

संगीतरत्नाकर में इसी का "गौडकृति" नाम है—

षड्जांशग्रहणन्यासां मतारां मपभूयसीम् ।
रिधत्यक्तां पमन्द्रा च तज्जा गौडकृतिं जगुः ॥ सं. रत्नाकर, २-१३०

दोनों के लक्षण प्रायः मिलते जुलते हैं । परन्तु समयसार में "गतारा" लिखा है अर्थात् तार सप्तक के गन्धार स्वर तक उसकी व्याप्ति है; जबकि रत्नाकर में "मतारा" है जिसका अर्थ होता है "तार-म" तक व्याप्ति । इस दोनों में केवल इतना ही भेद है ।

१२. गुर्जरी

रिग्रहांशा च मन्यासा जाता पंचमषाडवात् ।
ममन्द्रा च नितारा च रिधाभ्यामपि भूयसी ।
गुर्जरी ताडिता पूर्णा शृङ्गारे विनियुज्यते ॥ सं. समयसार

संगीतरत्नाकर में "पंचम षाडव राग" के नीचे गुर्जरी की व्याख्या इस प्रकार दी है—

तज्जा गुर्जरिका मान्ता रिग्रहांशा ममध्यभाक् ।
रितारा-रिधभूयिष्ठा शृंगारे ताडिता मता ॥ सं. रत्नाकर, २-८९

यहां दोनों के लक्षणों में थोड़ा भेद है । शायद छपाने में भूल हो अथवा मूल प्रति में ही कुछ गड़बड़ हो । क्योंकि चिह्नित शब्दों के सिवाय बाकी सभी लक्षण एक ही हैं; जैसे कि "रिग्रहांशा", "मन्यासा", "रिधाभ्यामपि भूयसी" । तथा "ताडिता" "शृंगारे" इत्यादि लक्षण भी एक ही हैं । "रितारारिधभूयिष्ठा" ऐसा रत्नाकर का पाठ है । उसके स्थान में "नितारारिधभूयिष्ठा" होना चाहिए क्योंकि तार री स्वर की व्याप्ति होने पर तो सामान्यतः राग की व्याप्ति दो सप्तक से कम ही होनी चाहिए । इसी प्रकार "ममध्यभाक्" के

स्थान पर ममन्द्रभाक् होना चाहिए। क्योंकि इस राग की व्याप्ति मन्द्र सप्तक में किस स्वर तक और तार सप्तक के किस स्वर तक होती है, इसका स्पष्टीकरण ऊपर के दो श्लोको में है।

भाषाङ्गराग

१. वेलाउली (वेलावली)

कुकुभप्रभवा भाषा या प्रोक्ता भोगवर्धिनी।
वेलाउली तदंगं स्यात् परिपूर्णसमस्वरा ॥३४॥
धैवतांशग्रहन्यासा धतारा मन्द्रमध्यमा।
षड्जेन कम्पिता सेयं विप्रलम्भे नियुज्यते ॥३५॥

संगीतरत्नाकर में भी बतलाया है कि "ककुभ राग" में से निकली हुई "भोगवर्धिनी भाषा" में से वेलावली उत्पन्न हुई है—

तज्जा वेलावली तारधा गमन्द्रा समस्वरा।
धाद्यन्तांशा कम्पषड्जा विप्रलम्भे हरिप्रिया ॥ २-११५

इनमें लक्षण तो एक ही हैं, मात्र मन्द्रव्याप्ति के संबंध में मतभेद है।

१. सायरी (आसावरी)

ककुभोत्था रगं ह्यंगं धान्ता मध्यग्रहांशका (?) (मांशा च मंगल)
गतारा स्वल्पषड्जा च पंचमेन विवर्जिता।
मन्द्रा सा सायरी ज्ञेया कर्त्तव्या करुणे रसे ॥३९॥ सं. समयसार

रत्नाकरे—रगंति भाषा में से :—

तद्भवाऽसावरी धान्ता गतारा मन्द्रमध्यमा।
भग्रहांशा स्वल्पषड्जा करुणे पंचमोज्झिता ॥

दोनों के लक्षण एक ही हैं। "मध्यग्रहांशका" में "मध्य" का अर्थ "मध्यमस्वर" समझना चाहिए। प्रयोग भी इसी अर्थ में है।

१३. देशाख्यः

गान्धारपंचमा जाता ऋषभेण विवर्जिता।
ग्रहांशन्याससम्बन्धगान्धारा च समस्वरा ॥
निषादमन्द्रा गान्धारस्फुरितेन विराजिता।
षाडवा यदि रागांगं वंशे पूर्णे च दृश्यते ॥
देशाख्य..... सं. समयसार

संगीतरत्नाकर में "गान्धारपंचम" ग्राम राग के नीचे देशाख्य का स्वरूप इस प्रकार दिया है—

तज्ज्ञा स्फुरति गान्धारा देशाख्या वर्जितर्षभा ।
ग्रहांशन्यासगान्धारा निमन्द्रा च समस्वरा ॥सं. रत्नाकर

संगीतरत्नाकर का उपर्युक्त श्लोक त्रुटित प्रतीत होता है। तो भी उसमें आया हुआ लक्षण संगीतरत्नाकर (?) के साथ मिलता है। "षाडवा यदि रागांगं वंशे पूर्णे च दृश्यते" इस पंक्ति का सम्बन्ध ठीक ठीक ज्ञात नहीं होता।

१४. देशी

स्याद (स्यादंगरं) रंगरेव (?) गुप्तस्य गमन्द्रा पंचमोज्झिता ।
ऋषभांकग्रहन्यासा तथा समनिभूयसी ।
देशी नाम प्रयोक्तव्या रागोऽयं करुणे रसे ॥सं. समयसार

संगीतरत्नाकर में भी ऐसा ही लक्षण है और वह "रेवगुप्तराग" के नीचे ही दिया है—

तज्ज्ञा देशी रिग्राहांशन्यासा पंचमवर्जिता ।
गान्धारमन्द्रा करुणे गेया मनिसभूयसी ।
देशी नाम प्रयोक्तव्या रागोऽयं करुणे रसे ॥सं. रत्नाकर, २-१०३

देशी राग के दोनों के लक्षण देखने पर समान ही प्रतीत होते हैं। इस प्रकार पार्श्वदेव के दिए हुए "रागांग राग" हम देख गए। अब कुछ "भाषांग राग" (?) और "उपांग राग" देखें।

उपांग राग

१. भैरवी

भिन्नषड्जसमुद्भूता धांशन्यासग्रहान्विता ।
समशेषस्वरा पूर्णगान्विता तारमन्द्रयोः ।
देवादिप्रार्थनायां तु भैरवी विनियुज्यते ॥सं. समयसार
धांशन्यासग्रहा तारमन्द्रगान्धारशोभिता ।
भैरवी भैरवोपांगं समशेषस्वरा भवेत् ॥सं. रत्नाकर, २-१४४

इन दोनों के लक्षण समान ही हैं। पहले में "भिन्नषड्जसमुद्भूता" कहा है और दूसरे (सं. रत्नाकर) में "भैरवी भैरवोपांगं" कहा है। इनका अर्थ एक ही होता है क्योंकि भैरव राग भी "भिन्नषड्ज" में से ही उत्पन्न हुआ है यह हम ऊपर देख गए हैं। छह राग और छत्तीस (तीस ?) रागिनिओं के प्रपंच करने वाले ग्रन्थ भी भैरवी रागिनी को भैरवराग की स्त्री मानते हैं और ऐसा कहा है कि वह महादेव की पूजा करके प्रार्थना करती है। कि—

स्फटिकरचितपीठे रम्यकैलासशृंगे;
विकचकमलपत्रैरर्चयन्ती महेशम् ।
करधृतघनवाद्या पीतवर्णायताक्षी;

सुकविभिरियमुक्ता भैरवी भैरवस्त्री ॥
मल्हार एवं मल्हारी—
लक्षणं विनियोगश्च भवेन्मल्हारिकासमम् ।
मल्हारस्य गतित्यागः पंचमं स्फुरणं भवेत् ॥सं. समयसार

इसमें मल्हार राग का लक्षण देखने पर मल्हारी जैसे ही उसके स्वर प्रतीत हैं, परन्तु मल्हार में ग और नी स्वरों का त्याग बतलाया है। अब मल्हारी का लक्षण देखें—

मल्हारी—

अन्धालिकांगमल्हारी मध्यमांशग्रहान्विता ।
रिमन्द्रा च गशून्या च शृंगारे ताडितस्वरा ॥

इसमें मल्हारी आंधालिका का अंग है, ऐसा कहा है। अब संगीतरत्नाकर में आए हुए दोनों रागों के लक्षण की भी जाँच करें।

मल्हारी—

मल्हारी तदुपांगं स्यादगहीना मन्द्रमध्यमा ।
पंचमांशग्रहन्यासा शृंगारे ताडिता मता ॥सं. रत्नाकर, अ० २-१५६

"आंधाली भाषाराग" के नीचे ही मल्हारी राग दिया है। जिस प्रकार मल्हारी के लक्षण के विषय में दोनों ग्रन्थकारों का मतभेद है—एक में "मध्यमांश" है, दूसरे में "पंचमांश" है—उसी प्रकार एक में "रिमन्द्रा" अर्थात् ऋषभ स्वर तक मन्द्रव्याप्ति है तो दूसरे में "मन्द्रमध्यम स्वर" तक है।

अब मल्हारः —

आंधाल्युपांगमल्हारः षड्जपंचमवर्जितः ।
धन्यासांशग्रहो मन्द्रगान्धारतारसप्तमः ॥ सं. रत्नाकर, अ० २-१५७

मल्हार राग आन्धाली राग का उपांग राग है। इसमें षड्ज और पंचम स्वर वर्जित हैं। धैवत अंश, ग्रह और न्यास है। मन्द्रसप्तक में "गान्धार" स्वर तक और तारसप्तक में "सप्तम" अर्थात् "निषाद" स्वर तक उसकी व्याप्ति है।

मल्हार राग के विषय में दोनों ग्रंथों में पूरा मतभेद दिखाई देता है। एक में "ग नी" स्वरों का निषेध वर्जित है तो दूसरे में "सा प" का। दोनों केवल आंधाली का उपांग मात्र मानते हैं।

इसलिए थाट् (ठाट) तो एक ही होगा।

रागों के ऊपर इतना विवेचन पर्याप्त होगा। राग के लक्षण दो प्रकार के दिए हैं—सामान्य और विशेष उनमें प्रत्येक के चार प्रकार के लक्षण हैं। अंश स्वर की व्याख्या दस लक्षणों से युक्त दी है जो कि नाट्यशास्त्र में से ही ली गई है।

४ चतुर्थ अधिकरण के प्रारम्भ में प्रबंध की व्याख्या दी है। जो व्याख्या सोमनाथ ने अपने रागविबोध ग्रन्थ में उद्धृत की है, वह तो ऊपर ही बतला दी गई है। चार धातु और छह अङ्गों से जिसका नियमन होता है वह प्रबंध। जिस प्रकार आस्थायी, अंतरा आभोग और संचारी आजकल भी ध्रुपद आदि के प्रबंधक धातु कहे जाते हैं। उसी प्रकार पहले के प्रबंधगीतों में भी वह व्यवस्था थी और उसी को ग्रंथकार ने इस अधिकरण में बतलाया है। इसके पश्चात् पाद, बंध, स्वरपद, चित्र, तेन, मिश्र इत्यादि करणों की व्याख्या, एकादश ध्रुवों के अनन्तर उनका उपयोग करने का तरीका बतलाने के बाद अधिकरण समाप्त किया है। प्रत्यक्ष गायन किस प्रकार करना चाहिए इसके बारे में महत्त्वपूर्ण सूचनाएँ भी दी हुई दिखाई पड़ती हैं।

५. पंचम अधिकरण में अनवद्यादि चार प्रकार के वाद्यों के भेद बतला कर के तत्सम्बन्धी परिभाषिक शब्द भी समझाए हैं। यह भाग सम्भवतः नाट्यशास्त्र में से ही लिया हुआ मालूम पड़ता है। पाठवाद्य के बारह प्रकार बतला कर के उन अक्षरों को किस प्रकार बजाना चाहिए—यह बतलाने का भी प्रयत्न किया है।

६. छठे अधिकरण में नृत्य और अभिनय के बारे में लिखा है। अंग विक्षेप के अनेक विभिन्न प्रकार दिए हैं। ये सब प्रकार नाट्यशास्त्र में वर्णित प्रकारों से भिन्न प्रतीत नहीं होते।

७. सातवें अधिकरण में ताल का उद्देश, उसका लक्षण और उसके नाम दिए हैं। यह सारा वर्णन रत्नाकर से मिलता जुलता है। अन्त में एक सुन्दर श्लोक दिया है जो इस प्रकार है—

तालमूलानि गेयानि ताले सर्वं प्रतिष्ठितम्।
तालहीनानि गेयानि मंत्रहीना यथाहुतिः॥

इस प्रकार संगीत में ताल का कितना महत्त्व है यह इस श्लोक में बतलाया है।

८. आठवें अधिकरण का नाम गीताधिकरण रखा है। गीत किस तरह गाना ?, गीत के गुण तथा दोष कैसे होते हैं ?, क्रियावान् पण्डित किसे कहना ?, सभा में किस तरह गाना ?, किस तरह बैठना ?, वाग्यवेकार(?), उत्तम नर्तक, तथा वादक किसे कहना ? इनके बारे में अत्यंत सूक्ष्म ज्ञातव्य बातें दी हुई हैं। उत्तम, मध्यम और कनिष्ट गायक किसे कहना, तथा नायक किसे कहना इसके बारे में भी जानने योग्य बातें दी हैं। इस प्रकार यह महत्त्वपूर्ण अधिकरण है।

९. नवें अधिकरण में प्रस्तार, नष्ट, उद्दिष्ट आदि देने के बाद अधिकरण समाप्त किया है।

इस प्रकार इस ग्रंथ का यथाशक्य संक्षिप्त अवलोकन किया। तत्कालीन देशी संगीत के बारे में कुछ जानने के लिए इतना विवेचन पर्याप्त होगा। ग्रंथकार स्वयं मार्ग-

संगीत के झगड़े में नहीं पड़ा है। उन्होंने तो केवल देशी सङ्गीत के विषय में ही लिखा है। इस ग्रंथ का प्रचार कर्णाटक और उसके आसपास के प्रांतों में विशेष होना चाहिए। क्योंकि ग्रंथ में वर्णित संगीत दक्षिण पद्धति का है और इसीलिए दक्षिण पद्धति के समर्थक सोमनाथ ने इस ग्रंथ का भी उल्लेख किया है, जो कि समुचित ही है। ऊपर कहा गया है कि प्रस्तुत ग्रंथ खण्डित है। पं० विष्णु शर्म्मा कृत "हिन्दुस्तानी संगीत पद्धति भाग २" में संगीत समयसार का उल्लेख श्रुति पर विवेचन करते हुए, किया है। उसमें ऐसा लिखा है कि प्रस्तुत ग्रंथकार ने सारंगदेव के "संगीतरत्नाकर" में से बहुत से विधान लिए हैं। परंतु पं० विष्णु शर्मा ने पार्श्वदेव के संगीतसमयसार ग्रंथ में से जो वाक्य उद्धृत किए हैं वे त्रिवेन्द्रम् की प्रकाशित पुस्तक में देख नहीं पड़ते। इसलिए ऐसा मालूम होता है कि उनके पास शायद दूसरी प्रति हो। प० विष्णु शर्मा द्वारा उद्धृत वाक्यों को देखते ही ऐसा प्रतीत होता है कि वे वाक्य संगीतसमयसार के कर्ता ने रत्नाकर से लिए होंगे। परंतु संगीतरत्नाकर से पूर्व के "संगीतमकरन्द" नामक ग्रन्थ में भी, जो कि अभी ही गायकवाड़ ओरिएण्टल सिरीज़ में प्रकाशित हुआ है, ये वाक्य मिलते हैं। इसलिए ये वाक्य किस ग्रन्थ में से किसने लिए हैं, यह निश्चित करना कठिन है। प्राचीन समय से प्रचलित अमुक मत विषयक विवेचन अनेक ग्रन्थों में समान हो सकता हैं।

प० विष्णु शर्मा द्वारा उद्धृत वाक्य इस प्रकार हैं—

अत्रोच्यते स्वरादीनामुत्पत्तिहेतुर्वात स्थानम्। त्रीणि स्थानानि हृत्कण्ठशिरांसि इति समासतः।

द्वे वीणे तुलिते कार्येऽखिलावयवस्तथा।
एकं वीणैव भासेते यया द्वे ह्यपि शृण्वताम्॥
श्रुतिराद्या मन्द्रतमध्वानां(?) कार्या (विचक्षणैः)।
द्वितीया तु ततस्तीव्रध्वनिस्तन्त्री विधीयते।
यथा तथा तयोर्मध्ये न तृतीयो ध्वनिर्भवेत्॥

इस ग्रन्थ का दूसरा उपयोग पं० विष्णु शर्मा ने उसी हिन्दुस्तानी सङ्गीत पद्धति भाग २ में भैरव राग के ऊपर विवेचन करते समय किया है। वहाँ उन्होंने पार्श्वदेव के रागों का वर्गीकरण दिया है। उस वर्गीकरण में एक सौ दो राग दिए हैं जब कि प्रस्तुत प्रकाशित पुस्तक में एक सौ तीन हैं। पं० विष्णु शर्मा लिखते हैं कि 'रत्नाकर में से बातें लेकर के उन्होंने अपने ग्रन्थ में दी हैं परन्तु उसका कठिन भाग तो प्रस्तुत ग्रंथकारने भी ठीक ठीक समझा नहीं है।'

पं० विष्णु शर्मा की प्रति और प्रकाशित प्रति के मिलाने के बाद यदि शुद्ध प्रति तैयार की जायगी तो उस समय के देशी सङ्गीत पर कुछ अधिक प्रकाश पड़ेगा—ऐसा कहकर यह विवेचन पूर्ण करता हूँ।

सं. नोटः इस 'संगीत-समयसार' के रचयिता पार्श्वदेव निस्संदेह जैन धर्मावलम्बी हैं, यह बात आगे के फुट नोटों से स्वयं स्पष्टहो जायगी। अतः यहां पर इस बात की अधिक छानबीन करने की आवश्यकता नहीं दीखती। इनके समय के सम्बन्ध में मोरेश्वरजी का कहना है कि "ग्रन्थकार स्वयं द्वितीय अधिकरण के प्रथम श्लोक में ही भोजराज और सोमेश्वर का उल्लेख करते हैं। भोजराज का समय ई० सन् १०५३ और सोमेश्वर का ई० सन् ११८३ है। इस प्रमाण से ग्रन्थकार अथवा ग्रन्थ का समय ई० सन् ११८३ के बाद का सिद्ध होता है।" इसी विषय पर 'Classical Sanskrit Literaturc' के विद्वान् लेखक एम. कृष्णमाचारियर ने निम्न प्रकार अपना अभिप्राय व्यक्त किया है: "यह (पार्श्वदेव) भोजराज, सोमेश्वर एवं परमार्दिन् का उल्लेख करते हैं और स्वयं सिंग (सिंह) भूपाल के द्वारा स्मरण किये गये हैं। अतः आप १३ वीं शताब्दी में अवश्य जीवित थे।"* इस प्रकार पार्श्वदेव के समय के सम्बन्ध में दोनों विद्वान् एकमत हैं।

अब पार्श्वदेव के वंश तथा गुरु-परम्परा को लीजिये। इस संबंध में मोरेश्वरजी तो सर्वथा मौन हैं। हां, कृष्णमाचारियर इन्हें स्पष्ट श्रीकान्त जाति के आदिदेव एवं गौरी के पुत्र तथा महादेवार्य के शिष्य बतलाते हैं।† ज्ञात होता है कि उक्त विद्वान् को संगीत-समयसार की किसी हस्तलिखित प्रति में यह बात उपलब्ध हुई होगी। क्योंकि त्रावंकोर से प्रकाशित संगीतसमयसार की मुद्रित प्रति में कहीं भी इनके माता-पिता के नाम नहीं मिलते हैं। पार्श्वदेव की 'श्रुतिज्ञानचक्रवर्त्ती,' 'संगीताकर' आदि उपाधियों से यह बात स्पष्ट सिद्ध होती है कि आप संगीतशास्त्र के एक प्रकाण्ड विद्वान् थे। वास्तव में इनका संगीत-समयसार ग्रन्थ अपने विषय की एक महत्त्वपूर्ण कृति है। जहाँ तक मेरा खयाल है कि संगीत-विषय-प्रतिपादक स्वतन्त्र जैन कृतियों में यह संगीतसमयसार ही सर्वप्रथम प्रकाशित हुआ है। कवि पार्श्वदेव के मत से संगीत ही मोक्षप्राप्ति का एक सुगम उपाय है, दर्शनशास्त्र नहीं। कहने का आशय यही है कि जैनधर्म में भी संगीत की पर्याप्त प्रतिष्ठा है। हमें स्थानाङ्गसूत्र पर की अभयदेव की टीका (ई० सन् १६०३), भद्रबाहुकृत कल्पसूत्र पर की विनयविजय (ई० सन् १७ वीं शताब्दी) की टीका, हरिभद्रकृत आवश्यकवृत्ति पर का हेमचन्द्र (ई० सन् ११ वीं शताब्दी) का टिप्पण, श्राद्धप्रतिक्रमण पर की रत्नशेखर की टीका (ई० सन् १४९६) और अनुयोगद्वारसूत्र पर का मलधारी हेमचन्द्र (ई० सद् १२ वीं

*—Classical Sanskrit Literature. पृष्ठ ८५५।

†—"श्रीमदभयचन्द्रमुनीन्द्रचरणकमलमधुकरायितमस्तकमहादेवार्यशिष्यस्वरविमलविद्यापुत्र-सम्यक्त्वचूडामणिभरतभाणडीकभाषाप्रवीणश्रुतिज्ञानचक्रवर्तिसङ्गीताकरनामधेयपार्श्वदेवविरचिते सङ्गीतसमयसारे" परन्तु संगीतसमयसार की मुद्रित प्रति में यह अंश इस प्रकार मिलता है: "श्रीमदभिनवभरताचार्यसरविमलहेम्मंणार्यविद्यापुत्रश्रुतिज्ञानच(क्र)वार्तिसङ्गीताकरनामधेयपार्श्व-देवविरचिते सङ्गीतसमयसारे"।

शताब्दी) का टिप्पण आदि श्वेताम्बर सूत्रग्रन्थों की टीकाओं से भी संगीतशास्त्र की अनेक ज्ञातव्य बातों की विशद चर्चा उपलब्ध होती है।* मोरेश्वरजी ने पार्श्वदेव को दाक्षिणात्य अनुमान करते हुये यों लिखा है : "स्थायी के नामों को देखते हुये ऐसा मालूम होता है कि ग्रन्थकार ने महाराष्ट्र तथा कर्णाटक में प्रचलित संगीत की ओर विशेष ध्यान दिया है। कर्णाटक के नाम बहुत बार देखने में आते हैं। इससे ग्रन्थकार स्वयं कर्णाटक की ओर के हों ऐसी सम्भावना होती है।" मोरेश्वरजी के इस अनुमान से मैं भी सर्वथा सहमत हूं।

एक बात और उल्लेख कर देना है। वह यह है कि कृष्णमाचारियर के कथनानुसार पार्श्वदेव ने अपने ग्रन्थ में राजा प्रताप, दिगम्बरसूरि और शंकर का उल्लेख किया है।† परन्तु पता नहीं चलता है कि दिगम्बरसूरि से पार्श्वदेव ने किनका स्मरण किया है। यह नाम है भी कुछ विलक्षणसा। साथ ही साथ संगीतसमयसार की अंतिम पुष्पिका में कवि पार्श्वदेव के द्वारा सादर स्मरण किये गये मुनीन्द्र अभयचन्द्र एवं गुरु महादेवार्य का भी कुछ पता नहीं लगता। संभव है कि पार्श्वदेव के द्वारा स्मृत मुनीन्द्र अभयचन्द्र और गोम्मटसार की वृत्ति, शाकटायनप्रक्रियासंग्रह आदि के रचयिता आचार्य अभयचन्द्र ये दोनों अभिन्न व्यक्ति हों। इन दोनों के काल में भी विशेष अंतर नहीं है। यों तो एक दो अभयचन्द्र और भी हुए हैं। खैर, इन सब बातों का पता लगाने के लिये कुछ समय चाहिये। इसलिये इस समय यह विषय यहीं पर छोड़ दिया जाता है।

—के० भुजबली शास्त्री

---

*—'जैन-सिद्धान्त-भास्कर' भाग ७, पृष्ठ १९ देखें।

†—पञ्चतालेश्वरो यद्वा हृद्यं गद्यमथापि वा। आलिक्रमोऽयमेवोक्तः प्रतापपृथिवीभुजा॥
केशवबन्धकरौ प्रोक्तौ तौ दिगम्बरसूरिणा। उत्तानावाञ्चितौ किञ्चित् पार्श्वगौ त्रिपताकरौ॥
सकलं निष्कलं चेति वाद्यमेतत् द्विधा भवेत्। कथितं शंकरेणेदं एके तन्त्रीसमाश्रयम्॥
(Classical Sanskrit Literature. pp. 855—56)

खगेन्द्रमणिदर्पण

[ले० श्रीयुत पं० के भुजबली शास्त्री, विद्याभूषण]

यह विषशास्त्र-सम्बन्धी ग्रन्थ है। इसके रचयिता कवि मंगराज हैं। इनका जन्म-स्थान वर्तमान मैसूर राज्यान्तर्गत मुगुलिपुर था। इन्हें उभयकवीश, कविपद्मभास्कर और साहित्यवैद्यविद्याम्बुनिधि ये उपाधियाँ प्राप्त थीं। इन उच्च उपाधियों से पता चलता है कि मंगराज कन्नड और संस्कृत दोनों भाषाओं के प्रौढ़ कवि थे। स्वर्गीय आर० नरसिंहाचार्य के मत से इनका समय लगभग ई० सन् १३६० है। मंगराज जैनधर्मावलम्बी हैं इसलिये इन्होंने आचार्य पूज्यपाद एवं जिनेन्द्र भगवान की उक्तियों को ही उपर्युक्त अपनी कृति का आदर्श माना है।

कवि ने इस ग्रन्थ का नाम खगेन्द्रमणिदर्पण रखा है। लोक में प्रसिद्धि है कि पक्षिराज गरुड सर्पों का वैरी है और वह सर्पविष दूर करता है। इसी प्रकार गरुडमणि भी लोक में विषनिवारक माना जाता है। अतएव खगेन्द्रमणि शब्द का लाक्षणिक अर्थ विषापहार के उपाय मानकर मंगराज ने विषापहार के उपाय के लिये दर्पणसदृश अर्थात् विषापहार के उपाय को स्पष्ट बतलाने वाला—यों इसका यह अन्वर्थ नाम रखा है। ग्रन्थकर्त्ता इसमें सर्पादि स्वाभाविक विषों के अतिरिक्त हमलोगों के रोज के आहार के काम में आने वाले चावल, गेहूं, मडवा आदि सभी चीजों में विष बतलाते हैं और साथ ही साथ उसका उपचार भी। इस खगेन्द्रमणि-दर्पण में १६ अधिकार हैं। कवि का कहना है कि ये १६ अधिकार तीर्थंकरपुण्यकर्म के निदान-स्वरूप षोडश भावनाओं के स्मृति-चिह्न हैं। यह है शास्त्रग्रन्थ। फिर भी इसमें काव्य के समान जहाँ-तहाँ अपूर्व अर्थ-पोषक अनेक उपमान भी उपलब्ध हैं। ग्रन्थ में यत्र-तत्र बहुतसे अपूर्व संस्कृत शब्द भी देखने को मिलते हैं।

यह ग्रन्थ कंद और वृत्तों में रचा गया है। फिर भी इसमें उत्पलमाला, शार्दूल, चम्पक, स्रग्धरा आदि सुप्रसिद्ध अक्षरगणवृत्त भी जहाँ-तहाँ उपलब्ध होते हैं। दो-चार अनुष्टुप पद्य भी इसमें मिलते हैं। कवि का कहना है कि यह ग्रन्थ धर्म, अर्थ, काम और मोक्षरूप चारों पुरुषार्थों के स्वरूप को बतलाता है। बल्कि कवि ने इसे 'मृतसंजीवनी' अथवा 'जीवितचिन्ता-मणि' भी कहा है। एक दृष्टि से यह है भी ठीक।

अस्तु, ग्रन्थ के प्रत्येक अधिकार के विषय निम्न प्रकार हैं :

प्रथम अधिकार—इसमें मंगलपूर्वक स्थावर, जंगम और कृत्रिम आदि विषों के भेद, सर्पों की जातियाँ, औषधों का संग्रहकाल, औषधों के प्रसवादि भेद एवं उनकी शक्तियाँ, सद्वैद्यलक्षण और दुर्वैद्यलक्षण आदि कहे गये हैं।

द्वितीय अधिकार—इसमें स्थावरविष के भेद, विषाक्रान्तलक्षण तथा उसका परिहार, नस्य, पान, लेप और अंजन आदि चार प्रकार के औषध एवं अनेक मन्त्र उक्त हैं।

तृतीय अधिकार—दष्ट के लिये किये जाने वाले संग्रहादि आठ प्रकार के कार्य, अष्टकुलसर्पलक्षण, दंशप्रकार तथा लक्षण, दंशनवार, दूतलक्षण और साध्यासाध्यादिनिश्चय आदि अनेक प्रकार के दष्टशोधन के भेद प्रतिपादित हैं।

चतुर्थ अधिकार—इसमें दष्ट के लिये किये जाने वाले संग्रहादि अष्टविध शोधन कार्य के विधान अनेक मन्त्रों के साथ बतलाये गये हैं।

पंचम अधिकार—इसमें विष को निर्मूल करने वाले अनेक प्रकार के बनौषध मन्त्रों के साथ कहे गये हैं।

षष्ठ अधिकार—इसमें विष को दूर करने वाले अनेक प्रकार के अंजन उक्त हैं।

सप्तम अधिकार—इसमें विषको नष्ट करने वाले बहुत-से नस्य कहे गये हैं।

अष्टम अधिकार—इसमें विषको नाश करने वाले अनेक प्रकार के लेपों का वर्णन है।

नवम अधिकार – इसमें पानादि सभी क्रियाओं के लिये औषध बतलाये गये हैं।

दशम अधिकार—इसमें मंडलजाति के सर्पों के भेद, दंशलक्षण तथा उसके परिहार उक्त हैं।

एकादश अधिकार—इसमें बिच्छू के भेद और उनके काटने पर किये जाने वाले पान, अंजन, नस्य और लेप आदि का वर्णन है।

द्वादश अधिकार—इसमें चूहों के भेद और उनके विषको दूर करने के लिये नस्य, पान, लेप और अंजन वगैरह वर्णित हैं।

त्रयोदश अधिकार—इसमें भालू, बाघ, हाथी, सूअर और गीदड़ आदि पशु; शिंशुमार, तिमि और मकर (मगर) आदि जलचर; कबूतर आदि पक्षी; चींटी, चींटा, मक्खी, हड्डा और बर्र आदि क्षुद्र जन्तु एवं मनुष्य के दन्त-नख-क्षत आदि सम्पूर्ण जंगमविष का स्वरूप तथा तन्निवारक औषध और मन्त्र कहे गये हैं।

चतुर्दश अधिकार—इसमें सम्पूर्ण कृत्रिमविष का स्वरूप और उनको निर्मूल करने वाले उपाय बतलाये गये हैं।

पंचदश अधिकार—इसमें वाष्प के भेद, स्वरूप तथा परिहार उक्त हैं।

षोडश अधिकार—इसमें नागाकृष्टि, नागसहागमन, विषभक्षण का क्रम, शब्दनिर्विष-मन्त्रविधान, भूतनिर्विषविधान, सर्पोच्चाटन, विष के लिये कवलप्रयोग, वमनौषध, उपनाह (व्रण बांधने का विधान), विषज व्रण के लिये औषध, मूषकवृषभाद्युच्चाटन, वृश्चिकाद्युच्चाटन तैलिक औषध, विषव्रणहारक मलहम, व्याघ्रमुखस्तम्भनादि मन्त्रविधान, निर्विष के लिये मुद्रिकानिर्माणविधान और सर्वविष हरौषध आदि सभी संकीर्ण (फुटकर) विषय कहे गये हैं।

महत्त्वपूर्ण यह विषशास्त्र मद्रास विश्व-विद्यालय के कन्नड सीरिज़ में हाल ही में प्रकाशित हुआ है। इस बहुमूल्य कृति को प्रकाश में लाने वाला उक्त विश्व-विद्यालय धन्यवाद का पात्र है ही। साथ ही साथ इसके विद्वान् सम्पादक भी धन्यवाद के पात्र हैं। इसके लिये खासकर मित्रवर श्रीयुत पं० एच० शेष अय्यंगार विशेष प्रशंसा के पात्र हैं, जिनकी प्रबल प्रेरणा एवं अटूट परिश्रम से उक्त सीरिज़ में अबतक अमूल्य नव रत्न प्रकाश में आ सके जो कि प्रायः सभी जैन हैं। इस स्तुत्य कार्य के लिये जैन समाज श्रीयुत अय्यंगारजी का ऋणी रहेगा। आशा है कि अय्यंगारजी भविष्य में भी इसी प्रकार उत्तमोत्तम ग्रन्थ-रत्नों को प्रकाश में लाकर लोकहित एवं साहित्य-संसार को प्रसन्न करेंगे। अगर कोई प्रकाशनसंस्था इस ग्रन्थरत्न का हिन्दी अनुवाद प्रकाशित कर देती तो हिन्दी-भाषा-भाषी जनता को भी लाभ होता। देखूँ, इस पुनीत कार्य के लिये कौन संस्था अपना कदम बढ़ाने का साहस करती है। बल्कि इससे संस्था को आर्थिक लाभ भी हो सकता है। क्योंकि यह एक लोकोपयोगी ग्रन्थ है।

तुलु देश में जैनधर्म*

[ले० श्रीयुत डा० बी० ए० सालेतोर एम० ए०, पी-एच० डी०]

हमें तुलु देश में जैनधर्म के आगमन के बारे में जानकारी प्राप्त करने के लिए हिन्दू और जैन परम्परागत गाथाओं, शिलालेखों और जैन ग्रन्थों का जो मूडबिद्रे और कारकल के जैन केन्द्रों के पुस्तकालयों में सुरक्षित हैं—अध्ययन करना होगा। लेकिन उपर्युक्त अंतिम आधार अप्राप्य है, अतः हमें सिर्फ जैन और हिन्दू परम्परागत गाथाओं पर अवलंबित रहना पड़ेगा, जिनकी पुष्टि तुलु देश में प्राप्त जैन शिलालेखों से भी होती है।

हिन्दू पम्परागत गाथा में जैन मुनियों का उल्लेख मिलता है, जिन्होंने तुलु देश के एक हिस्से में जैनधर्म का प्रचार किया था। विष्णुपुराण में ऐसा प्रमाण मिलता है कि नाभि और मेरु के पुत्र ऋषभ ने बहुत ही योग्यता और बुद्धिमानी से शासन किया, और अपने शासन-काल में अनेक यज्ञ किये। अंत में वे अपना राजपाट अपने बड़े पुत्र भरत को सौंप कर एक संन्यासी की हैसियत से स्वयं पुलस्त्य ऋषि के आश्रम में निवास करने के निमित्त चले गये। उन्हीं भरत के नाम पर इस भूमि का नाम भारतवर्ष पड़ा है। ऋषभ ने कठिन तपस्या की। उनका शरीर सूख कर काँटा हो गया।

भागवतपुराण में इस बड़े प्रचारक ऋषभजी के परिभ्रमण का पूर्ण उल्लेख मिलता है। जिस प्रकार कुम्हार का चाक स्वयं चलता है, उसी प्रकार ऋषभजी का शरीर कोंक वेंकट, कुटक और दक्षिण कर्णाटक में गया। कुटक पहाड़ से सटे एक जंगल में उन्होंने अपने मुँह में कुछ चमकते कंकड के टुकड़े को रख लिया, और उसके बाद नंगे हो, एक उन्मत्त की भांति, बिखरे बालों को धूल-धूसरित करते हुए घूमने लगे। दुर्भाग्यवश उस जंगल में बाँसों की रगड़ से भयानक आग लग गयी, जिससे सारे जंगल के साथ उनका शरीर भी जल कर खाक हो गया। कोंक, वेंकट, और कुटक के राजा को ऋषभजी के इस आचरण की जब खबर मिली, तो उन्होंने अपना धर्म छोड़कर, अपनी समझ और पसंद के मुताबिक, एक झूठे धर्म का सृजन किया।(!)†

ऊपर जो कुटक का नाम आया है, उसे तुलु देश का कुटकग्राम समझना चाहिए। उपर्युक्त उल्लेखों से पता चलता है कि तुलु देश में जैनों के आगमन की तिथि ऋषभ के प्रारम्भिक काल कही जा सकती है। ऋषभ ही प्रथम तीर्थङ्कर हैं। उस वक्त जैनों का प्रचार-स्थान कुटकग्राम और हट्टेंगडि के बीच कहीं पर था। आज भी हट्टेंगडि जैनों का पवित्र क्षेत्र माना जाता है। यदि हम ऋषभ के परिभ्रमण की कथा की वास्तविकता पर

---

* विद्वान् लेखक के द्वारा लिखे गये महत्त्वपूर्ण इस प्रकरण की कई बातों पर मेरा मतभेद है। अतः यथावकाश इस विषय पर मैं एक स्वतंत्र लेख लिखूंगा। —के० भुजबली शास्त्री

† यह कथन सांप्रदायिक है। सं०

विश्वास करेंगे, तो हमें मानना पड़ेगा कि जैनधर्म की स्थापना सबसे पहले कुंदापुर के क्षेत्र में हुई, और उसके बाद तुलु देश के अन्य क्षेत्र में।*

लेकिन मूडबिद्रे और कारकल, जो तुलु देश में जैनधर्म के प्रसिद्ध स्थान समझे जाते हैं की परम्परागत कथाएँ उपर्युक्त कथाओं के बिल्कुल विपरीत मालूम होती हैं। मूडबिद्रे और कारकल में जो परम्परागत गाथाएँ हैं, उनसे पता चलता है कि तुलु देश में जैनधर्म की स्थापना ९ वीं शताब्दि (ईस्वी सन्) में हुई। प्रथम तो तुलु देश के जैन परसुराम को नहीं जानते।(!) दूसरे में, ब्राह्मणों की भाँति, यमदग्नि के द्वारा सप्त कंकण के सृजन की बात वे नहीं मानते हैं। बुचानन ने लिखा है कि वे जैनधर्म का इतिहास जिनदत्तराय के वक्त से मानते हैं, जिनका जन्म, उनके कथनानुसार, यमुना के नजदीक उत्तर मथुरा में हुआ था। इससे मालूम होता है कि जैनों का आगमन इस जिले में बहुत पीछे हुआ।

दूसरी बात, तुलु देश के जैन स्वयं यह स्वीकार करते हैं कि तुलु देश के ब्राह्मण उनसे पहले वहाँ निवास करते थे।† बुचानन ने जैनों के द्वारा इस बात का पता लगाया है कि तुलु देश के ब्राह्मणों का, जो बेद के अनुयायी थे, मयूर वर्मा नामक एक जैन राजकुमार ने उल्लेख किया है। वे एक हजार वर्ष पूर्व बारकूर में निवास करते थे। लेकिन तुलु देश के इस शासक के बारे में जैनों के पास कोई लिखित उल्लेख नहीं है। इसलिए ऐसा पता चलता है कि जैन तुलु देश में उस समय आये, जब मयूर वर्मा का नाम व निशाँ धूमिल पड़ गया था।

तीसरी बात, मूडबिद्रे की सबसे पुरानी बस्ति का नाम गुरुगल बस्ति है। मूडबिद्रे के जैन इस बस्ति को एक हजार वर्ष पुराना मानते हैं। उनका मत है कि उनके प्राचीन नेताओं का आगमन ९ वीं शताब्दि में या कुछ दिन आगे-पीछे हुआ था।† इसके अलावा वे इस बात को भी मानते हैं कि उसी नगर में गौरी का मंदिर गुरुगल बस्ति से पुराना है। एतदर्थ यह निर्विवाद है कि जैनों के आगमन के पूर्व उस नगर में हिन्दू-धर्म का अस्तित्व कायम था।

चौथी बात, उपर्युक्त नगर में एक महल्ला है, जिसका नाम हल्लवरवर्ग है। मूडबिद्रे के जैन इस बात को मानते हैं कि उक्त नगर में जैनों की यह सबसे पुरानी बस्ति थी। जैन उस बस्ति में एक व्यापारी की हैसियत से आये। उन्होंने वहाँ जैन-धर्म का प्रचार करना शुरू किया। उन्हें अपने कार्य में पूरी सफलता मिली। यहाँ तक कि उन्होंने मूडबिद्रे के राजा को, जो हिन्दू-धर्म का अनुयायी था, जैनधर्म का पक्का अनुयायी बनाया। यह

---

* यह तर्क जैन मान्यता से मेल नहीं खाता है। सं०

† इसके लिये लिखित उल्लेख अपेक्षणीय है। सं०

घटना उस समय घटी जब आलुपों ने मूडबिद्रे को अपनी प्रांतीय राजधानियों में एक राजधानी कायम की। उपर्युक्त बातों की पुष्टि शिलालेखों से भी हो जाती है।

पाँचवीं बात, मूडबिद्रे ब्राह्मणों का प्राचीन केंद्र था। जैनों की परम्परागत गाथाओं और शिलालेखों से इस बात की पूरी पुष्टि होती है।† मूडबिद्रे के चौटर पहले हिन्दू थे। पीछे वे जैन हो गये। उन्होंने अपना केन्द्र छोड़कर पुत्तिगे में निवास करना शुरू किया। उनके कुलदेवता उल्लाला के सोमनाथ देव थे। बुचानन का कथन है कि उनके समय में मूडबिद्रे में ६ गद्दी या मंदिर ब्राह्मणों के हाथ में थे। वे पुराणपंथी थे। वहाँ दो वर्ग के ब्राह्मणों के सात सौ घर थे।

छठीं बात, जब बुचानन ने मूडबिद्रे के जैनों से मुलाकात की, तो उन्हें पता चला कि उन्हें अपने सहधर्मियों के उत्तर भारतवर्ष या श्रवणबेल्गोल से देशांतरवास का जरा भी ज्ञान नहीं था। बुचानन के कथनानुसार जैनों का कथन है कि उनका पहले सारे भारतखंड पर विस्तार हुआ। उनका कथन है कि जितने लोग क्षत्री वंशज होने का अभिमान रखते थे, वे सब उनकी जाति के थे। यह स्पष्ट है कि रामानुजाचार्य के समय तक दक्षिण भारत के बहुत से शक्तिशाली राजकुमार जैनों के अनुयायी हो गये थे। जैनों का कथन है कि पहले अरब में उनकी बहुत संख्या थी। लेकिन, २५०० वर्ष पहले मक्का में राजा पार्श्व भट्टारक की आज्ञा से उपद्रव शुरू हुआ। इस कारण वहाँ से बहुत जैनी भागकर इस देश में चले आये। वे पार्श्व भट्टारक को मुसलमानीधर्म का संस्थापक मानते हैं। जब वे यहाँ आये, उनमें अरबी होने के कोई चिन्ह नहीं थे; बल्कि उनमें हिन्दू के सभी लक्षण मौजूद थे। यदि जैन, कुछ लोगों के कथनानुसार, सचमुच तुलु देश में भद्रबाहु के समय में आये होते, तो उन्हें अपने आगमन की बात अवश्य याद रहती।*

इसके अतिरिक्त कारकल के धर्माध्यक्ष के अधिकार का इतिहास बतलाता है कि तुलु देश में जैनधर्म का आगमन पीछे हुआ। बुचानन को कारकल के पुजारियों के द्वारा मालूम हुआ है कि जिनदत्त का प्रथम पुत्र प्रथम बैरसु ओडेय था और उसके वंशज इसी नाम से मशहूर हुए। यद्यपि इसमें ऐतिहासिक सत्यता नहीं है, फिर भी जहाँ तक कारकल का संबंध है, तुलु देश में जैनों का आगमन जिनदत्त के समय में हुआ था। इससे साबित होता है कि तुलु देश में जैन-धर्म की स्थापना ९ वीं शताब्दि (ए.डी.) के बाद शीघ्र ही हुई।

मूडबिद्रे में चारुकीर्ति पंडितदेव की परम्परागत गाथा तथा शिलालेख से पता चलता है कि तुलु देश में जैनधर्म की कुछ उन्नति १२ वीं शताब्दि (ए. डी.) में हुई। बहुत पीछे जैनों ने वारंग और उसके पड़ोसी-स्थानों में अपना निवास स्थान बनाया। शाका

† इसके लिये लिखित उल्लेख अपेक्षणीय है। सं०

* मान्य लेखक का यह तर्क ठीक नहीं जंचता। सं०

१०८३ (ए. डी. ११६१-२) में राजकुमार कुमारराय ने एक मंदिर बनाने में सहायता दी थी। कुमारराय का पता नहीं चलता कि वे कौन थे। पर उनकी सहायता का पता शिलालेख से मिलता है। वह शिलालेख केरेवासे में मिला था। उससे पता चलता है कि केरेवासे १२ वीं शताब्दि (ए.डी.) के मध्य में जैनधर्म का केन्द्र बन गया था। शिलालेखों से पता चलता है कि १३ वीं शताब्दि (ए.डी.) के प्रारम्भ में आलुप राजाओं ने जैनधर्म को सहायता पहुँचायी थी। लिखित प्रमाणों से पता चलता है कि मूडबिद्रे में कुलशेखर आलुपेन्द्रदेव प्रथम के द्वारा जैनधर्म को राजकीय सहायता प्राप्त थी। उन्होंने जैन गुरुओं का मलधारिदेव, माधवचंद्र और प्रभाचंद्र के नाम से नामकरण किया था।

नल्लूर में जो शिलालेख प्राप्त हुआ है, उससे पता चलता है कि आलुप राजा (दूसरा) ने भी जैनधर्म को सहायता दी थी। शाका १२१८ (ए.डी. १२९६) में नल्लूर की एक जैन बस्ति के लिए किसी ने भूमिदान किया था। मूडबिद्रे की अम्मनवरु नामक बस्ति में एक शिलालेख प्राप्त हुआ है। वह आलुप राजा कुलशेखर आलुपेन्द्रदेव, तीसरा, (ए.डी. १३८४) के समय का है। उससे पता चलता है कि उपर्युक्त आलुप राजा का झुकाव जैनधर्म की ओर पूर्ण रूप से था। वह रत्नसिंहासन पर बैठता था। पार्श्वनाथदेव का पूरा उल्लेख मिलता है।

उपर्युक्त घटना उस समय की है, जब जैनधर्म का नल्लूर, केरेवासे, वारंग और मूडबिद्रे में पूर्ण रूप से जम चुका था और बारकूर में उसका पदार्पण हो रहा था, × शाका १३३१ (ए.डी. १४०८) के लिखे कोडगु कागजात से पता चलता है कि सांतर राजा वीरभैरव और उसके पुत्र पाण्ड्यभूपाल ने पार्श्वनाथ की मूर्ति के लिए भूमिदान किया था, और बारकूर ग्राम में मुनियों को आहार कराया था। यहाँ एक बात और लिख देना उपयुक्त होगा कि बारकूर की जैन बस्ति में प्राप्त एक शिलालेख से पता चलता है कि चारुकीर्ति पंडितदेव ने बारकूर में आदि परमेश्वर की सेवा के लिये भूमिदान किया था। यह शाका १४२१ (ए.डी. १४९९—१५००) की बात है।*

* बी० ए० सालेतोर की 'Ancient Karnataka' ((Vol I, History of Tuluva) नामक अङ्गरेजी पुस्तक के 'Jainism' शीर्षक प्रकरण का स्वतन्त्रानुवाद।

—अनुवादक बनारसीप्रसाद भोजपुरी, साहित्यरत्न, रचनानिधि

× श्रीयुत ए० गणपतिराव के कथनानुसार सन् ७८ में ही यहाँ पर जैनधर्म मौजूद था। सं०

जैन कविताओं में ऐतिहासिक प्रसंग

[ले० श्रीयुत कालीपद मित्र, एम. ए.]

इस लेख में मैं मेसर्स अगरचन्द नाहटा तथा भँवरलाल नाहटा (मुद्रित वि० सं० १९९४) द्वारा संग्रहीत 'ऐतिहासिक जैन काव्य संग्रह' में आये हुए व्यक्तियों के आकस्मिक प्रसंगों का वर्णन करूँगा। यह अपभ्रंश, राजस्थानी तथा हिन्दी में रचे गये हैं।

सम्पादकों का कथन है कि इनमें लगभग सभी खरतरगच्छ सम्प्रदाय से सम्बंधित हैं जो बीकानेर में फैला था और वे विजयसिंहसूरि, विजयप्रकाशरास तथा एक अन्य कविता के अतिरिक्त तपागच्छ सम्प्रदाय से सम्बंधित कविताओं का संग्रह करने में असफल रहे हैं।

कविताएँ यशगान हैं और उनका मुख्य ध्येय जैन शासन की प्रभावना है। ऐतिहासिक घटनाओं तथा व्यक्तियों का वर्णन आकस्मिक वर्णन है। इनमें जैन मुनियों का राजा महाराजा द्वारा सम्मानित होने का वर्णन है। कुछ के विषय में कहा गया है कि उन्होंने केवल अपनी पवित्रता तथा तप द्वारा ही नहीं वरन् चमत्कारों के प्रदर्शन द्वारा भी इन राजाओं पर अपना प्रभाव स्थापित किया है। इन कविताओं में ऐतिहासिक सत्य गर्भित है, यद्यपि ये प्रामाणिक नहीं कही जा सकतीं। वैज्ञानिक निरीक्षण तथा समकालीन प्रमाणों से तुलना के पश्चात् ही यह घटनाएँ विश्वास योग्य समझी जा सकती हैं।

जिनप्रभसूरि के गुणगानों में कथन है कि दिल्ली के सुल्तान मुहम्मद ने भी उनकी प्रशंसा की थी :—

राउ महंमद साह जिण, निय गुण रंजियउं।
मेढ मंडल ढिल्लिय पुरि, जिण धरमु प्रकट किउं।
तसु गछ धुरधरण भयलि, जिणदेव सूरि राऊ। श्रीजिणप्रभसूरिगीतम्।

पौष मास के शुक्ल पक्ष की अष्टमी, शनिवार वि० सं० १३८५ (१३२८ ई०) को वह मुहम्मद शाह आसापति दिल्ली की सभा में पधारे। सुल्तान ने उनका सम्मान किया, अपने निकट स्थान दिया और धन, पृथ्वी, अश्व, गज आदि उनको भेंट किए। उन्होंने इसे स्वीकार न किया क्योंकि यह चारित्र-नियमों के विपरीत थे। परन्तु सुल्तान का सम्मान करने के लिए उन्होंने कुछ वस्त्र स्वीकार किए। सुल्तान ने उनके गुणगान के पश्चात् शाही मुहर से एक नवीन वस्ती (उपाश्रय—साधुओं का विश्रामगृह) के निर्माण कराने का आज्ञापत्र निकाला। उनके सम्मान में एक उत्सव हुआ और जुलूस नवयुवतियों के नृत्य तथा वाद्यगान सहित पोषधशाला को चला। वह सामंतों से घिरे हुए सुल्तान के हाथी पर आरूढ़ थे।

(गाथा २—९, जिनप्रभसूरिगीतम्)

तेर पंचासियइ पोस सुदि आठम सणिहबारो।
भेटिउ असपते 'महमंदो' सुगुरु ढोलिय नयरे ॥२॥
श्रीमुख सलदिउ पातसाह विविदपरि मुणिसीहो ॥५॥
देइ फुरमाणु अनुकारवाई, नव वसित राय सुजाणु ॥७॥

जिनप्रभसूरि के पट्टधर जिनदेवसूरि भी मुहम्मद शाह द्वारा सम्मानित हुए थे। मुहम्मद शाह ने उनकी वाणी से प्रभावित होकर कन्नानपुर की अथवा वहाँ से आई हुई वीर जिन की प्रतिमा की स्थापना दिल्ली में एक पावस-अवसर पर एक पवित्र दिवस को की थी।

वंदहु भविपदो सुगुरु जिणदेवसुरि ढिल्लिय वरनयरि देसणउ
जेह कन्नाणपुर मंडणु सामिउ वीर जिणु।
महमदराय समप्पिउं थापिउ सुभ लगनि सुभ दिवसि ॥२॥

—श्रीजिणदेवसूरिगीतम्।

एक अन्य गीत में जिनप्रभसूरि के असपति कुतुबुद्दीन द्वारा सम्मान का कथन है जिसने उनको कृष्ण पक्ष के चतुर्थ तथा अष्टम वार को आमंत्रित किया था।

आठाहि आठमिहि चउथी, तेडावइ सुरताणु ए।
पुह सितमुख जिणप्रभसूरि चलियउ जिमि ससि इंदु विमाणिए॥
'असपति कुतुवदीनु' मनि रंजिउ दीठेल जिणप्रभसूरीए।

जिनचन्द्रसूरि (जिनप्रबोधसूरि के पट्टधर) ने सुल्तान कुतुबुद्दीन को भी प्रसन्न किया।

कुतुवदीन सुरतान राउ, रंजिउ समनोहरु।
जामि पयडउ जिणचन्द सूरि, सूरिहं सिर सेहरु ॥६॥

—श्रीजिनकुशलसूरिपट्टाभिषेकरास।

अब हमें देखना है कि यह सुल्तान कौन हैं? जिनप्रभसूरि सुल्तान से १३२८ ई० में मिले थे। मुहम्मद बिन तुगलक १३२५ ई० में सिंहासनारूढ़ हुए और १३५१ ई० को स्वर्ग सिधारे। अतः मुहम्मद शाह मुहम्मद तुगलक ही होंगे।

मुहम्मद शाह एक परिवर्त्तनशील गुणी पुरुष था और अनेक विज्ञानों का ज्ञाता था। ज़ियाउद्दीन बर्नी और इब्न बतूता ने उसका एक भयानक चरित्र चित्रण किया है। परन्तु दोनों ही उनकी महान् विद्वत्ता, तर्कशास्त्र पर आधिपत्य एवं अरस्तू सदृश महान् दर्शनशास्त्रज्ञ होना एक मत से स्वीकार करते हैं। उसका स्वतंत्र विचारक, तार्किक, सभ्य, तथा विद्वानों का एक परम मित्र होना तो निर्विवाद है। जियाउद्दीन शोक प्रकट करते हुए कहता है "दर्शनशास्त्र के नियमों का जो कि हृदय को निष्ठुर और निर्मोह बना देते हैं उस पर गहरा प्रभाव पड़ा था।.....मुसल्मानों को दण्ड देना और सत्य धर्मानुयायियों को सज़ा देना

उसकी प्रकृति तथा व्यसन बन गए थे"[1] इसके विरुद्ध ब्राउन का मत है कि "उसकी समस्त मुद्राओं से उसको रूढ़िवादिता प्रकट होती है। कल्पना ही नहीं वरन् सुल्तान की ग़ाज़ी की उपाधि धारण करना भी यही सिद्धि करता है[2]"

ऐसा प्रकट होता है कि वह रूढ़िवादी नहीं था वरन् एक प्राचीन प्रथा का पालन कर रहा था क्योंकि वह शैख़ निज़ामुद्दीन औलिया का जो कि 'समा' (हृदय-ग्राही नृत्य तथा वाद्य-गान) में ही सदा तल्लीन रहता था और एक प्रशंसक था, यद्यपि यह रूढ़िवादी के सिद्धांत के प्रतिकूल है। उसने नागरी लिपि में एक उपदेश अपनी प्रिय मुद्राओं पर अंकित कराया था तथा वह उत्सवों के अवसर पर संस्कृत के उपयोग से सहमत था। वह धार्मिक तत्त्ववेत्ताओं के वादविवाद में बड़ा रस लेता था। इस कार्य्य में वह अकबर के समान था जो फतहपुर सीकरी के इबादत ख़ाने में इस प्रकार के विवादों को सुनता था। अतः यह किसी प्रकार आश्चर्यजनक नहीं कि उसने विद्वान् तथा संत जिनप्रभसूरि तथा उनके पट्टधर जिनदेवसूरि का सम्मान किया हो। ऐसा कथन है कि उसने दक्षिण भारत के एक महान् जैन तार्किक का सम्मान किया था जिसने सुल्तान की राजसभा में बौद्ध विद्वानों तथा अन्य धर्मानुयायी पण्डितों को वादविवाद में परास्त कर प्रसिद्धि प्राप्त की थी। यह घटना १३२६ ई० से १३३७ ई० के मध्य हुई प्रतीत होती है।

[3]मुनीन्द्र वर्द्धमान के एक संस्कृत महाकाव्य 'दशभक्त्यादिमहाशास्त्र, में निम्नांकित पद्य मिलते हैं।

विद्यानन्दस्वामिनः सूनुवर्यः संजातः स सिंहकीर्तिव्रतीन्द्रः।
ख्यातः श्रीमान् पूर्णचारित्रगात्रो दानस्वर्भूधेनुमन्दारदेशः॥
बाभात्यश्वपतेर्दिनेशतनयो गङ्गाख्यदेशावृतः
श्रीमद्दिल्लिपुरे महद्मदसुरित्राणस्य माराकृतेः।
निर्जित्याशु सभावनौ जिनगुरुबौद्धादि ×××× व्रजम्
श्रीभट्टारकसिंहकीर्त्तिमुनिराड् नाट्यैकविद्यागुरुः॥

नगरतालुक (मैसूर) के पद्मावती बस्ति के हुंबुच्च के शिलालेख में एक इसी के समान लेख मिलता है। "बाभाति अश्वपतेर्दिनेततनयो बङ्गाख्यदेशावृत श्रीमत्दिल्लिपुरे·····मुदसुरित्राणस्य माराकृतेः निर्जित्याशुं सभावनं जिनगुरुबौद्धादिवादित्रजं श्रीभट्टारकसिंहकीर्त्तमुनिरा···द्यैकविदामगुरुः॥"

१ सर एच एलियट, 'हिस्ट्री ऑव इण्डिया तृतीय खंड पृ० २३६
२ सी० जे ब्राउन, 'दी कॉइन्स ऑव इण्डिया, पृष्ट ७३, ७४
३ Ms. No 253/kha, जैन-सिद्धान्त-भवन [जैन-सिद्धान्त-भास्कर]

स्पष्टतया 'मुद' मुहम्मद शब्द का एक भाग है (अथवा महम्मद जो कि भूल से प्रायः महमूद पढ़ा जाता है) जो कि मिट गया है अथवा स्पष्ट नहीं है। राइस इसका मधुर (मुदा < मुदु < मृदु) अर्थ लगाते हैं और महमूद जोड़ देते हैं। डाक्टर सालेतोर इसे 'तत् न भूषनाढ्यदेववृत' पढ़ते हैं और इस पर आश्चर्य प्रकट करते हैं कि राइस साहब ने 'बङ्गाल्य-देशवृत' पढ़ा।[1]

दशभक्त्यादि-महाशास्त्र[2] ने मोहम्मद (मुद नहीं) सुरित्राण और गंगाढ्य-देश का वर्णन करके यह शंकाएँ निर्मूल कर दी हैं। और राइस साहब के मत को बड़ी सहायता दी है।

[3]डाक्टर सालेतोर ने 'दश०' के रचियता वर्द्धमान की तिथि १३७८ अनुमान की है।[4] (गुरुपरम्परा में अंत से विशालकीर्त्ति से गणना की गई है जिनकी तिथि १४६८ ई० है। मेरुनन्दि-वर्द्धमान-प्रभाचन्द्र-अमरकीर्त्ति-विशालकीर्त्ति इत्यादि प्रत्येक का समय ३० वर्ष निर्धारित किया है) जिसका समर्थन श्रवणबेल्गोल के १३७२ ई० के एक रेकार्ड (record) से होता दीख पड़ता है। परन्तु 'दश०' में एक श्लोक मिलता है कि वर्द्धमानने इसकी रचना ('शके वेदखराब्धिचन्द्रकलिते सम्वत्सरे श्रीप्लवे सिंहश्रावणिके प्रभाकरशिवे कृष्णाष्टमी-वासरे रोहिण्याम्' इत्यादि) शक सं० १४६३ (अथवा १४६४ यदि वेद ४ हों,[5] ३ न हों) = १५४१ ई० में की। वास्तविक तिथि, तिथि सम्बन्धी अन्य बातों से निर्धारित की जा सकती हैं। वास्तविक तिथि कोई भी हो, रचियता ने 'दश०' में नगर तालुक के शिलालेख के अनेक अंश उद्धृत किए हैं। चूंकि वह हमारी अपेक्षा शिलालेख की निर्माण-तिथि के अधिक निकट था, इसलिए यह अनुमान करना उचित ही होगा कि लेखक ने इस शिलालेख को उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम वर्षों में बीसवीं शताब्दि की अपेक्षा अति उत्तम दशा में पाया होगा। अतः मेरे विचार से शिलालेख के प्रति उनका मत ही मान्य होना चाहिए।

जिनप्रभसूरि अद्वितीय ज्ञानी, कवि, विद्वान् व एक गण्य मान्य जैनाचार्य थे। मुनि जिनविजयजी स्वसम्पादित जिनप्रभसूरि के 'विविधतीर्थकल्प' में कहते हैं कि आचार्य का सुल्तान मुहम्मद शाह के दरबार में बहुत मान था इतना अधिक कि जितना हीरविजयसूरि का अकबर की राजसभा में था। और सम्भवतः वही सर्व प्रथम जैनाचार्य थे जिन्होंने मुसल्मान बादशाह के दरबार में जैनधर्म की कीर्त्ति पताका फहराई थी।[6]

१ Karnatak Historical Review, IV. pp. 77-86.

२ इसके विशेष परिचय के लिये मेरे द्वारा संपादित 'प्रशस्तिसंग्रह' देखें।—के० भुजबली शास्त्री

३ Mediaeval Jainism pp. 370-71.

४ ,, p. 300,

५ 'वेद' का ४ ही लेना समुचित है।—के० भुजबली शास्त्री।

६ सिंघीजैनग्रन्थमाला—विश्वभारती, शान्तिनिकेतन।

आंतरिक प्रमाणों द्वारा उनकी तिथि निर्धारित की जा सकती है। इस पुस्तक में संकलित कविताओं में सर्वप्रथम रचित कविता की तिथि 'वैभवगिरिकल्प' के अन्तिम चरण में दी है। इसकी प्रथम पंक्ति इस प्रकार है 'वर्षे सिद्धा सरस्वद्रससिखिकुमिते विक्रमे'। इसमें हमें वि० सं० १३६४ (१३०७ ई०) की तिथि मिलती है। इस कविता का अंत इस पंक्ति से स्पष्ट है 'नन्दान्नेकपशक्तिसीतागुमते श्रोविक्रमोर्वीपते'। इससे हमें वि० सं० १३८९ (१३३२) मिलती है। इस रचना के अन्य अंशों से आभास मिलता है कि यह वि० सं० १३६४ से पूर्व और १३८९ के पश्चात् रचे गए हैं।

इस रचना में हमारे वर्त्तमान विषय से सम्बंधित श्रीजिनप्रभसूरि के कार्य्यों का वर्णन है। प्राकृत रचना 'कन्यानयनीयमहावीरप्रतिमाकल्प' में श्री महावीर की मूर्त्ति की स्थापना की घटना का वर्णन इस प्रकार है :—

वि० सं० १२२३ (११७६ ई०) में कोल देश के कन्नाननगर में यह मूर्त्ति विराजमान थी। वि० सं० १२४८ (११९१ ई०) में जब चौहान वंश का नेता पृथ्वीराज शहाबुद्दीन* द्वारा मारा गया, तब श्रेष्ठी रामदेव ने श्रावकों को एक पत्र लिखा कि तुर्कों का शासन आरम्भ हो गया है। महावीरजी की प्रतिमा को छुपाए रखिए। यह वि० सं० १३११ तक रेत में छुपाए रक्खी गई। इस वर्ष एक बड़ा भयानक दुर्भिक्ष फैला। अतः एक योजक नाम का बढ़ई कन्नाननगर को छोड़कर अधिक उपजाऊ प्राँत की खोज में कयम्बसत्थल (?) में आया। उसे एक स्वप्न में प्रतिमा के सम्बन्ध में चेतावनी मिली। फलतः उसने प्रतिमा खोज निकाली और उसे चैत्यालय में स्थापित कराया और पूजन करवाई। तुर्कों द्वारा अनेक उत्पात हुए। एक दिन प्रतिमा से प्रक्षाल के समय पसेव निकला और पोंछने पर भी फिर पसेव निकला। यह एक अशुभ चिन्ह था। दूसरे ही दिन जाट राजपूतों का आक्रमण हुआ। वि० सं० १३८५ को आसीनगर का सिकंदर आया और उसने साधुओं व श्रावकों को पकड़वा लिया, श्रीपार्श्वनाथजी की पाषाण-मूर्त्ति को तोड़ डाला। परन्तु श्रीमहावीर की प्रतिमा को सुरक्षित और अखंडित अवस्था में ही एक गाड़ी में रखकर दिल्ली पहुंचाई और सुल्तान की आज्ञा तक तुग़लक़ाबाद के सुल्तान के कोषागार में रक्खी गई। इसी बीच में श्री महम्मद सुरत्तान देवगिरि से जोगनीपुर आगया। एक समय खरतरगच्छ समुदाय के गौरवश्री जिनप्रभसूरि विहार करते हुये देहली आए। ज्योतिषी धाराधर के द्वारा उनके महान् पाण्डित्य का हाल सुन कर सुल्तानने उसको श्रीमुनि के निकट भेजा जो मुनि को पौष शुक्ला द्वितीया को बुला लाया। श्रीसूरि महाराजाधिराज से मिले। उन्होंने इन्हें अपने निकट आसन दिया। उनसे कुशलक्षेम पूछी और अर्द्ध

*मुहम्मद गोरी।

रात्रि तक वार्तालाप चलता रहा। उन्होंने वहाँ रात्रि व्यतीत की। प्रातः फिर निमंत्रण आया। सुल्तान उनके कवित्वचातुर्य्य से अति प्रसन्न हुआ और एक सहस्र गौ, धन, मुख्य वाटिका, सौ कम्बल, वस्त्र और इत्र जैसे अगर, चन्दन, कपूर इत्यादि भेंट कीं। श्रीगुरु ने सादर अस्वीकृति प्रकट की और कहा कि यह वस्तुएँ साधुओं के ग्रहण योग्य नहीं है (साधूनमेयम-न कप्पए सम्बोधिऊन महारायम पतिसिद्धम सव्व वत्थू) परन्तु सुल्तान के अधिक आग्रह पर उनका आदर व सम्मान करने के लिए श्रीगुरु ने कुछ कम्बल तथा वस्त्र स्वीकार किए। सुल्तान ने दूरदेशों से पधारे हुए विद्वानों के साथ इनका वादविवाद कराया (नानादेशान्तराय पण्डियेहिं सह वायगोद्विमकारविहा) और इतना प्रसन्न हुआ कि इन्हें और आचार्य जिनदेव को हाथी पर बैठाकर नृत्य-वाद्य-गान सहित पोषधशाला पहुँचाया। तब बादशाह ने एक फ़रमान (आज्ञापत्र) दिया जिसमें समस्त श्वेताम्बर सम्प्रदाय की रक्षा की आज्ञा थी। इसके पश्चात् सुल्तान ने शत्रुञ्जय, गिरनार, फलवड़ी इत्यादि तीर्थों की रक्षा का आज्ञापत्र निकाला। एक अन्य अवसर पर श्रीसूरि वर्षा में ही राजभवन में पहुँचे। उनके पैर सन रहे थे। सुल्तान ने मलिक काफूर से एक मूल्यवान वस्त्र लेकर उनके पैर पोंछे। श्रीसूरिने कविताओं से उन्हें प्रसन्न कर दिया। कविताएँ इतनी उत्तम थीं कि बादशाह चकित हो गया। इस अवसर पर उन्होंने श्रीमहावीरजी की प्रतिमा माँगी जो तुग़लक़ाबाद के कोषागार से मँगाकर मलिकों की उपस्थित में एक सार्वजनिक सभा में उन्हें भेंट की गई। तब यह संघ द्वारा मलिक ताजदीन को सराय में विराजमान की गईं। तब जिनदेवसूरि को अपने स्थान पर छोड़कर स्वयं महाराष्ट्र गए और वहाँ से देवगिरि पहुंचे। इसके पश्चात् श्रीजिनदेवसूरि दिल्ली में सुल्तान से मिले। सुल्तान बड़े आदर से मिले और एक सराय भेंट की जिसका स्वयं ही सुरत्तान सराय नाम रक्खा। वहाँ श्रीसूरिने (कलिकालचक्रवत्ति) एक पोषधशाला और एक चैत्यालय निर्माण कराया जहाँ श्रीमहावीर की प्रतिमा विराजमान कीं।

'कन्यानमहावीर-कल्पपरिशेष' में श्रीसूरि के बारे में अधिक वर्णन मिलता है। श्रीसूरि ने मुहम्मद तुग़लक़ से एक फ़रमान (आज्ञापत्र) प्राप्त किया। इसमें तुर्कों से पेथड़, सहज और अचल के चैत्यालयों की रक्षा की आज्ञा थी। कहा जाता है कि वादविवाद में उन्होंने अपने समस्त प्रतिद्वन्दियों का मान मर्दन किया था। एक अवसर पर शास्त्रार्थ के समय पंडितों की सभा में मुहम्मद तुग़लक़ ने कुछ शंकाएँ कीं और सूरि की विद्वत्ता को स्मरण करके कहा कि यदि वह यहाँ पर होते तो मेरी शंकाओं को बड़ी सरलता से निर्मूल कर दिये होते। निश्चय ही बृहस्पति उनकी बुद्धिमत्ता के आगे हार मान कर पृथ्वी छोड़कर आकाश में चला गया है। उसी समय तजब मलिक दौलताबाद से आया था उसने कारनिश (मुसल्मान प्रथा के अनुसार राजाओं की सलाम) कर के कहा कि महात्मा

जी वहाँ हैं परन्तु चूँकि वहाँ का जल उनके अनुकूल सिद्ध नहीं हुआ, वह अत्यन्त क्षीण हो रहे हैं। बादशाहने मीर को आज्ञा दी "ऐ मलिक! दुबीर खाँ के पास जाओ और एक आज्ञापत्र लिखाकर दौलताबाद भेज दो।" यह आज्ञापत्र दीवान दौलताबाद के पास पहुंचा। कुतल खाँ, नगर के नायकने यह समाचार सम्मान पूर्वक श्रीसूरि को सुनाया कि महाराज आप के दर्शन करना चाहते हैं। सूरि चलकर ऊलबपुर—दुर्ग पहुंचे फिर सिरोह और अन्त में सुल्तान से मिले। सुल्तान ने उनकी कुशल-क्षेम अत्यन्त नम्र शब्दों में पूछी और सस्नेह करचुम्बन किया (चुम्बियां सरिनेइम गुरुनम करो) और आदर पूर्वक हृदय से लगाया। श्रीसूरिने उन्हें आशीर्वाद दिया और सुरत्तान सराय पोषधशाला पहुँचे। सुल्तान ने मुख्य हिन्दू राजाओं व बड़े-बड़े मलिकों को उनके साथ जाने की आज्ञा दी।

दूसरी बार फाल्गुन में बादशाह अपनी माता मखदूम-ए-जहाँ की जो दौलताबाद से आ रही थीं अगवानी के लिए गया और बदाथून में मिला। श्रीसूरि उनके साथ थे। बादशाह ने अपने महल के निकट ही एक भवन दिया जिसका नाम स्वयं ही मट्टराय-सराय रक्खा। तब वि० सं० १३८९ (तेरसयन नवासिय वरिसे) अथवा १३३२ ई० में आषाढ़ कृष्ण सप्तमी को श्रीसूरि बड़ी धूमधाम और गाजे-बाजे के सहित पोषधशाला में पधारे। एक अन्य सुअवसर पर सुल्तान ने पूर्वीय देशों की विजययात्रा के लिए प्रस्थान किया (पुव्वदिशि-जयजहापत्थिएण) और श्रीसूरि उनके साथ थे। श्रीसूरि ने मथुरा तीर्थ का उद्धार किया। इस विचार से कि डेरों का जीवन श्रीसूरि को अति कष्टप्रद होगा, सुल्तानने इन्हें खोजे जहाँ मलिक के साथ आगरे से दिल्ली भेज दिया। बादशाह से हस्थिनापुर जाने का आज्ञापत्र लेकर श्रीसूरि अपने स्थान को लौटे। फ़रमान के कारण दिगम्बर एवं श्वेताम्बर बिना रोक-टोक चारों ओर जाने लगे।

इन घटनाओं का सुन्दर तथा सविस्तार वर्णन प्रत्येक को यह विचारने के लिए बाध्य करता है कि यह घटनाएँ सर्वथा काल्पनिक नहीं हैं। सुल्तान को कारनिश तथा श्रीसूरिका हस्त-चुम्बन की रीतियाँ मुसल्मान राजसभा के नियमों को स्पष्ट प्रकट करती हैं।

आइए, अब हम 'विविधतीर्थकल्प' में वर्णित व्यक्तियों की प्रमाणिकता की परीक्षा कर लें। कहा गया है कि सुल्तान समस्त सैनिक साज बाज सहित दौलताबाद से आती हुई अपनी माता मखदूमए जहाँ की अगवानी को बदाथून (बदायून) गया था।

'तारीखेमुबारिकशाह' के लेखक के अनुसार पहिली देवगिरियात्रा हिजरी सन् ७२७ (१३२६-१३२७ ई०) में हुई जब सुल्तान अपनी माता 'मखदूमए जहाँ,' अमीर, मलिक व अन्य प्रतिष्ठित सज्जन, हाथी, घोड़े व राज-कोष[1] सहित गया था। यह प्रकट होता है कि

१ History of Qararunahs Turks in India, Dr T. Prasad p. 84.

वि० सं० १३८५ (१३२८ ई०) में देवगिरि से सुल्तान दिल्ली लौटे। (जो कि समकालीन इतिहास के अनुकूल ही है।) जब कि उनकी माता पीछे ही रह गईं। श्रीसूरि की देवगिरि-यात्रा के लिए उनका वहाँ का निवास तथा दिल्ली को वापिसी के लिए समय देने के पश्चात् उनकी माता की वापिसी की घटना सन् १३३१ ई० में हुई प्रकट होती है जिसके पश्चात् ही वि० सं० १३८९ (१३३२ ई०) में श्रीसूरि ने पोषधशाला में जो उन्हें सुल्तानने अर्पण किया था, पदार्पण किया। जब सुल्तान विद्रोही शाह अफ़ग़ान को वश में करने के लिए जा रहे थे और अभी कुछ दूर ही पहुंचे थे कि उन्हें यह सूचना मिली कि अब उनकी पूज्य माता मखदूम-ए-जहाँ' की दिल्ली में मृत्यु हो गई है। वह एक अत्यन्त चतुर और बुद्धिमती महिला थीं सुल्तान को घोर दुःख हुआ। उन्होंने अपनी माता (जो कि अपनी समस्त आयु राज-माता का सम्मान भोगती रही थीं) के प्रति उचित तथा हार्दिक सम्मान प्रकट किया।

ऐसा कथन है कि सुल्तान पूर्व-विजय को गया। बग़ावतें उठीं। १३३५ ई० में जब मारवाड़ के जलालुद्दीन आसफ़शाह ने विद्रोह किया सुल्तान स्वयं ही उसको दंड देने गया। १३३७ में बङ्गाल में विद्रोह हुए। सम्भवतः इन्हीं में से किसी का उक्त रचनामें उल्लेख है। कुतल खाँ क़ुतलग़ खाँ (सुल्तान के शिक्षक कियाम अल्दीन की उपाधि) था। उसे एक अन्य उपाधि 'वकील-ए-दार' भी सुल्तान से मिली थी। वह एक सर्वप्रिय पुरुष था और देवगिरि का शासक नियत था।[1] देवगिरि से उसकी वापिसी पर प्रजा बहुत दुःखित हुई। 'खोजे जहाँ मलिक' 'ख्वाजा जहाँ' का उपनाम है। जो कि अहमद अयाज़ को अफ़ग़ानपुर के प्रसिद्ध मंडप के निर्माण के लिए जिसमें ग़ियासुद्दीन तुग़लक की मृत्यु हुई थी, मिला था। वह वजीरुल्मुल्क भी था।[2]

उबैद कवि ने एक असत्य चर्चा फैलाई कि सुल्तान ग़ियासुद्दीन बहुत बीमार है और मलिक तिमर, मलिक तिगिन.....मलिक काफ़ूर (राजमुद्रा रखने वाला) के निकट गया और अमीरों को बताया कि उलूग़ खां उन्हें सशंक दृष्टि से देखता है। ग़ियासुद्दीनने सिरि के मैदान में एक सार्वजनिक राजसभा की और उबैद कवि, काफ़ूर तथा अन्य विद्रोहियों की जीवित ही खाल खिंचवाई। इसलिए यह (मलिक काफ़ूर) वह व्यक्ति नहीं हो सकता जिसके हाथ से मुहम्मद तुग़लक ने श्रीसूरि के पैर पोंछने को वस्त्र लिया था।[3]

१ Ibid pp. 63, 146, 171; Elliot of cit pp. 251, 253. App. 571 Kasaid of Badr Chach

२ Ibid p, 83. वह मालिक ज़ादा अहमद भी था।

३ Elliott op. cit., pp. 203, 608. App. D. from 'Travels of Ibn Batuta, जिसमें कथन है कि शहजादा मुहम्मद तुगलक मुख्य उमराओं के सहित तैलिगाना गया था (तिमर, तिगिन और काफूर राजमुद्रा लगानेवाला मलिक इत्यादि) उसने विद्रोह फैलाने का प्रयत्न किया और उबैद कवि द्वारा गियासुद्दीन तुगलक के बारे में असत्य चर्चा फैलाई जिसने उबैद और काफूर को मृत्यु दंड दिया।

कुतुबुद्दीन के बारे में इन कविताओं में कोई तिथि नहीं मिलती। हमें जिनप्रबोधसूरि के पट्टधर, जिनचन्द्रसूरि की तिथि ज्ञात है। वह वि० सं० १३२४ सन् १२६७ ई० में उत्पन्न हुए और वि० स० १२७६ में उनकी मृत्यु हुई। कुतुबुद्दीन मुबारिक शाह, खिल्जी शँहशाह १३१६ ई० में सिंहासनारूढ़ हुआ; १३२० ई० में मार दिया गया। कविताओं का कुतुबुद्दीन सम्भवतः वही है। ऐलिफन्स्टन का मत है कि मुबारिक शाह के शासन काल में राजसभा का वातावरण हिन्दुओं के अनुसार था। यह भेंट सम्भवतः १३१८ ई० में खुसरों के अपने प्रभाव डालने से पूर्व (जिससे सर्वप्रथम उसकी मानसिक तत्पश्चात् शारीरिक मृत्यु हुई) हुई होगी।

हमें अन्य साधनों से ज्ञात होता हैं कि सुल्तान मुबारिक शाहने समरसिंह नामधारी पाटन के एक प्रतिष्ठित जैनी को दिल्ली में एक महत्त्वपूर्ण पद (व्यवहारी) पर नियत किया था। गियासुद्दीन समर सिंह को पुत्रवत् मानता था और उसे उसने तेलिंगाना भेजा जहाँ उसने अनेक जैन मंदिर निर्मापित कराए। मुहम्मद उसे भ्रातृवत् मानता था और उसे तेलिंगाना का शासक नियत किया था। जिनप्रभ-सूरि तथा महेन्द्रसूरि सुल्तान के प्रियजन थे।

[1]महेन्द्र सूरि के प्रति नयचन्द्र कहते हैं :—

एकः सोऽयं महात्मा न पर इति नृपश्रीमहम्मादशाहे।
स्तोत्रं प्रापत् स पापं क्षपयतु भगवान् श्रीमहेन्द्रप्रभुर्नः॥

अनुवादकः श्रीयुत नेमिचन्द्र जैन,

नोट :— श्री इत्यादि शब्द अनुवादक ने स्वय नामों के आगे जोड़ दिए हैं, क्योंकि हिन्दी भाषा में महापुरुषों के पहिले सम्मान सूचक शब्दों की अनुपस्थिति अशिष्टता सूचक है, यद्यपि अंग्रेजी में यह क्षम्य है।

१ Proceedings of the 7th Oriental Conference P. 630.

पूर्व और पश्चिम में दर्शन की धारणा

[ले० श्रीयुत डा० देवराज एम० ए०, डी० फिल०]

दर्शन की समस्या क्या है ? और उसका प्रयोजन क्या है ? इस सम्बन्ध में विभिन्न विचारकों ने विभिन्न मत स्थिर किये हैं। यह बात किसी एक ही देश के दार्शनिकों के ग्रन्थों से दर्शित की जा सकती है। ऐसी परिस्थिति में विभिन्न देशों, विशेषतः पूर्व और पश्चिम, के दार्शनिकों में एतद्विषयक मतभेद होना कोई आश्चर्य की बात नहीं है। वस्तुतः दर्शन की समस्या और प्रयोजन के बारे में पूर्वी और पश्चिमी विचारकों ने नितान्त भिन्न सम्मतियाँ प्रकट की हैं।

यदि हम योरुप के दार्शनिक इतिहास पर दृष्टिपात करें, तो यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि योरुपीय दर्शन का उद्देश्य, उसकी प्रमुख और एकमात्र समस्या, विश्व की व्याख्या करना है। इस विस्तृत और विभिन्न विश्व को किसी प्रकार बुद्धिगम्य बनाना ही योरुपीय दर्शन का उद्देश्य है। यह बात योरुप की अत्यन्त प्राचीन और अति आधुनिक सब दर्शन-पद्धतियों को लागू होती है। हाँ, इस सामान्य तथ्य का एक महत्त्वपूर्ण अपवाद भी है, यह अपवाद योरुप का मध्य-युगीय दर्शन है।

यूनान के प्रारंभिक विचारक, थेलीज़, एनेग्ज़ीमेण्डर, एनेग्ज़ीमिनीज़, हेराक्लाइटस आदि की खोज का विषय एक ऐसा मूल तत्त्व था, जिससे दृश्यमान जगत की विभिन्न व्यक्तियों (Entities) का उद्गम संभव हो सके। डिमोक्राइटस के समय तक दार्शनिकों को जीव-जगत और सामाजिक जगत की व्याख्या के महत्त्व का भान नहीं हुआ था, इसलिये वे उसकी ओर से उदासीन से रहे। किन्तु सोफिस्ट शिक्षकों के घोर संशयवाद ने यह आवश्यक बना दिया कि दर्शनशास्त्र मनुष्य और उसके सामाजिक जीवन की भी व्याख्या करे और मनुष्य के नैतिक विश्वासों का बौद्धिक मण्डन प्रस्तुत करे। इस प्रकार सोफिस्ट सन्देहवाद ने नीतिशास्त्र को जन्म दिया। संशयवाद का उत्तर देने की आवश्यकता ने ही ज्ञान-मीमांसा अथवा सम्वित्-शास्त्र को भी जन्म दिया। इस प्रकार आधुनिक दर्शन-सम्मत प्रमुख शाखाओं की नींव पड़ी। दर्शन की ये विभिन्न शाखाएँ विभिन्न अनुभव-क्षेत्रों की व्याख्या का प्रयत्न करती हैं। जबकि तत्त्व-मीमांसा का क्षेत्र समस्त विश्व है, वहाँ नीति-शास्त्र मुख्यतः मानव जीवन को अपना विषय बनाता है, और ज्ञान-मीमांसा ज्ञानमात्र की संभावना पर विचार करती है।

देखने की बात यह है कि योरुपीय दर्शन में आत्मा और परमात्मा की जिज्ञासा का कोई महत्त्वपूर्ण स्थान नहीं है। यद्यपि वर्तमान योरुपीय दर्शन के पिता डेकार्ट ने अपने चिन्तन का प्रारंभ आत्मा से किया है—वह आत्मा की स्वयंसिद्धता को लेकर चला है, फिर भी यह नहीं कहा जा सकता कि उसके दर्शन में आत्म जिज्ञासा का कोई विशिष्ट स्थान है। यह बात उसके बाद के दार्शनिक विकास से भी सिद्ध है। वास्तव में डेकार्ट के लिये आत्मा की सिद्धि ईश्वर को सिद्ध करने का द्वार या उपकरणमात्र है। अर्डमान द्वारा उद्धृत डेकार्ट के एक पत्र के अवतरण में यह बतलाया गया है कि जहाँ वह गणित के अध्ययन में प्रतिदिन कई घंटे व्यय करता था, वहाँ दार्शनिक चिन्तन में केवल कुछ घंटे प्रतिवर्ष लगाता था।* यह इस बात का निदर्शन है कि योरुपीय विचारक वाह्य जगत में काफी दिलचस्पी लेते रहे हैं। इसी प्रकार प्रसिद्ध चैतन्यवादी बर्कले के दर्शन में भी आत्म-जिज्ञासा का भाव प्रबल नहीं है। डेकार्ट और बर्कले दोनों आत्मचिन्तन में अभिरुचि जगाने में असमर्थ रहे। यूनानी दार्शनिकों, प्लेटो और अरस्तू, में भी आत्मजिज्ञासा प्रधान नहीं है। इन दार्शनिकों की पद्धतियों में ईश्वर की धारणा का भी गौण स्थान है। प्लेटो अपने जातिप्रत्ययवाद के लिये प्रसिद्ध है और अरस्तू अपने चतुष्कारणवाद तथा विकासवाद के लिये। संशयवादी ह्यूम के बाद काण्ट ने घोषित किया कि आत्मा और ईश्वर दर्शन के विषय ही नहीं हैं। साथ ही काण्ट को इस बात की बड़ी चिन्ता थी कि विज्ञान की संभावना और दृश्य-जगत की व्याख्येयता का मण्डन किया जाय। हीगल ने तो स्पष्ट ही विश्व के विभिन्न अंशों की व्याख्या करने का भगीरथ प्रयत्न किया है। अध्यात्मवादी होते हुए भी हीगल के दर्शन में उपास्य ईश्वर और आत्मा का गौण स्थान है। वस्तुतः हीगल के अनुसार विश्व-ब्रह्माण्ड की सारभूत अमूर्त्त धारणा-समष्टि (System of Categories) है जो भारतीय आत्मतत्त्व से नितान्त भिन्न है।

अति आधुनिक काल में ब्रेडले आत्म-तत्त्व को विवर्त्त या अतात्त्विक घोषित करता है। यद्यपि ब्रेडले के अनुसार दर्शन का काम तत्त्व पदार्थ को जानना है, फिर भी वह मानता है कि एक पूर्ण दर्शन समष्टि को विश्व-विवर्त्तों का विवरण दे सकना चाहिये। हमारे युग की अनेक विकासवादी पद्धतियाँ भी विश्व की व्याख्या का प्रयत्न करती हैं।

दूसरी बात यह है कि योरुप में दार्शनिक चिन्तन, चिन्तन के लिये रहा है, वह स्वयं ही अपना ध्येय माना गया है; उसका अपने से बाहर कोई लक्ष्य या उद्देश्य नहीं है।

इसके विपरीत भारतीय दर्शन एक उद्देश्य को लेकर प्रवृत्त हुआ था, वह मोक्ष का अन्यतम साधन माना गया। यही नहीं, अनेक दर्शनों के अनुसार दर्शन का प्रधान विषय आत्मा और परमात्मा की जिज्ञासा है। हमारे इस मन्तव्य का स्पष्टीकरण अपेक्षित है।

*—दे० हिस्ट्री आफ फिलॉसफी भाग २, पृ० २४

उपनिषद् में स्पष्ट कहा गया है कि परा विद्या वह है जिससे चरमतत्त्व (ब्रह्म या आत्मा) का ज्ञान हो। बाद को मुख्यतः वेदान्त दर्शन ने उपनिषदों के इसी सिद्धान्त को प्रचारित किया। अन्य दर्शनों में, जिन पर उपनिषदों का प्रभाव कम पड़ा, अवश्य ही विश्व ब्रह्माण्ड की व्याख्या करने का प्रयत्न पाया जाता है। उदाहरण के लिये जैन दर्शन, वैशषिक दर्शन और सांख्य दर्शन में विश्व के पदार्थों को वर्गीकृत करके उनकी स्वरूप-व्याख्या की कोशिश की गई है। किन्तु दूसरे दर्शनों में इस प्रकार की व्याख्या महत्त्वपूर्ण नहीं रह गई है। विशेषतः उत्तरकालीन भक्तिमार्गी दर्शन विश्व की व्याख्या के प्रति नितान्त उदासीन रहे और उनका एकमात्र उद्देश्य आत्मा और परमात्मा के सम्बन्ध को स्पष्ट करके ईश्वर-प्राप्ति के उपाय बतलाना रह गया। ध्यान देने योग्य बात यह है कि न्याय-वैशेषिक आदि दर्शनों में भी आत्मज्ञान को विशेष ऊँचा स्थान दिया गया है। यह बात वात्स्यायनभाष्य के निम्न अवतरण से स्पष्ट समर्थित होती है। वे लिखते हैं:—"क्योंकि ज्ञेय वस्तुओं की संख्या अनन्त है, इसलिये उन सबका यथार्थ ज्ञान प्राप्त नहीं किया जा सकता। अतएव उस पदार्थ का सम्यग्ज्ञान प्राप्त करने की चेष्टा करनी चाहिये जिसका अज्ञान पुनर्जन्म का सक्रिय हेतु बन जाता है।" वात्स्यायन की सम्मति में सबसे महत्त्वपूर्ण ज्ञान "आत्मा को अमर तथा शरीर, इन्द्रियों आदि नश्वर पदार्थों से भिन्न जानना" है।† शंकराचार्य ने स्पष्ट लिखा है—

न हि सृष्ट्याख्यायिकादिपरिज्ञानात् किंचित्फलमिष्यते। ऐकात्म्यस्वरूपपरिज्ञानात्तु अमृतत्त्वं फलं सर्वोपनिषत्प्रसिद्धम्।* [ऐतरेयभाष्य, अध्याय २, उपोद्घात]

उत्तरकालीन भारतीय दर्शन में विश्व की व्याख्या की उपेक्षा किये जाने का प्रधान कारण अद्वैत वेदान्त के प्रचार और प्रसिद्धि को ही समझना चाहिये। वेदान्त ब्रह्म और आत्मा में अभेद मानता है, इसलिये उसमें आत्मज्ञान पर बहुत जोर दिया गया। किन्तु भक्तिमार्गी दर्शनों में ज्ञान का प्रमुख विषय सगुण ईश्वर बन गया। इस प्रकार भारतीय दर्शन धीरे-धीरे विश्व की व्याख्या के प्रति अधिकाधिक उदासीन होता गया। मुक्ति का ध्येय लेकर चलने के कारण भारतीय दर्शन मोक्षधर्म (Religion) के उसी प्रकार समीप रहा, जिस प्रकार कि योरुपीय दर्शन, विशुद्ध ज्ञान या बौद्धिक तृप्ति को ध्येय बनाने के कारण, विज्ञान के।

---

†—दे० न्याय भाष्य (गंगानाथ झा कृत अंग्रेजी अनुवाद), पृ० ४६७—६८

*अर्थात् सृष्टि का क्रम आदि जानने से कोई लाभ नहीं है; ब्रह्मात्मैक्य का ज्ञान ही वास्तविक और उपयोगी ज्ञान है।

जैनियों की दृष्टि में विक्रमादित्य

[ले० श्रीयुत पं० के० भुजबली शास्त्री, विद्याभूषण; प्रोफेसर श्रीयुत देवसहाय त्रिवेद एम. ए.]

कालकाचार्य कौन था ?

जैनियों की दृष्टि में विक्रम संवत् प्रवर्तक शकारि विक्रमादित्य का एक महत्त्वपूर्ण स्थान है। कालकाचार्य कथानक[1] इस विषय पर पूर्ण प्रकाश डालता है। इस कथानक का रचनाकाल निर्विवाद स्थिर नहीं किया जा सकता। यह कथानक प्रायेण भद्रबाहु रचित कल्पसूत्र के परिशिष्ट में पाया जाता है। यद्यपि विक्रम संवत् ५१० के पूर्व केवल यति ही इसे पढ़ते थे; किन्तु उसके बाद यति और गृहस्थ दोनों सामान्यरूप से पढ़ते हैं। कालकाचार्य सूरि के ही समय पर्युषण का समय भाद्र कृष्ण पंचमी के बदले में भाद्र कृष्ण चतुर्थी स्थिर किया गया। हेमचंद्राचार्य ने (११४६-१२२९ वि० सं०) अपने योगशास्त्रवृत्ति में, जिसे उन्होंने अपने आश्रयदाता कुमारपाल (११९९-१२२९ वि० सं०) के समय में बनाया था, कालक का उल्लेख किया है। इसलिये संभव है कि कालकसंबंधी[2] विभिन्न कथानकों को मालवा में धारा नगरी के राजा भोज (१०७५-११७७ वि० सं०) के समय में विशद साहित्यिक रूप दिया गया हो।

खरतरगच्छ की पट्टावली (वीर संवत् ९८०) से तीन कालकाचार्य के अस्तित्व और उनके काल का पता चलता है। कालक प्रथम की मृत्यु वीर संवत् ३७६ या ९४ वर्ष विक्रमपूर्व, ९१ वर्ष की अवस्था में हुई। सर्व सम्मति से कालक द्वितीय का काल ४५३ वीर संवत् या १७ वर्ष वि० पू० धर्मप्रभसूरि के हस्तलिखित प्रतियों के आधार पर है। इसी समय सरस्वती का पुनः संघ में लेना माना जाता है। तृतीय कालकाचार्य ने पर्युषणकाल पंचमी से चतुर्थी में परिवर्तन वीर संवत् ९९३ या ५२३ वि० संवत् में किया। कालक प्रथम प्रज्ञापनासूत्र का रचयिता माना जाता है।

गर्दभिल्ल कौन था ?

अभिधान राजेंद्र (भाग ५ पृ० १२८९) के अनुसार राजा गर्दभिल्ल का समय वीर सं० ४५३—४६६ (वि० पू० १७ से वि० पू० ४) तक माना जाता है, यद्यपि जिनसेन[3]

---

१ कालकाचार्य कथानक, विलियम नार्मन ब्राउन संपादित, वाशिंगटन, १९३३ खृष्टाब्द।

२ इस महासूरि के विषय में विशेष प्रकाश के लिये कृपया द्विवेदी-अभिनंदन ग्रंथ, काशी-नागरी-प्रचारिणी-सभा द्वारा प्रकाशित, श्री मुनि कल्याणविजयजी का लेख अभिकालक पृ० ९४-१२० देखें।

३ बिहार उड़ीसा रिसर्च सोसाइटी जर्नल, भाग १६, पृ० २३४।

(८५० वि० सं०) ने रासभ (गर्दभिल्ल) का काल वीर संवत् ३४५ से ४४५ तक दिया है। प्रचलित कथानक में तीनों कालक के गुणों और कार्यों का सम्मिश्रण पाया जाता है। कालक की छोटी बहन सरस्वती सर्व-लावण्य-संपन्न थी। एक बार विहार[1] भूमि में उज्जयिनी नगरी के राजा गर्दभिल्ल उसे देखकर अवाक् हो गया और उसे पकड़वाकर बलात् अपने महल में भेज दिया। कालक ने उस दुष्ट राजा को बहुत समझाया कि जो दूसरे की स्त्री का हरण करता है उसका गोत्र नष्ट हो जाता है, चरित्र कलुषित हो जाता है, महान् योद्धा का पराक्रम क्षीण हो जाता है, उसकी बदनामी का ढोल सारे संसार में पिट जाता है, उसके कुल में सर्वदा के लिये कलंक का टीका लग जाता है। अतः, हे राजन्! इस मेरी बहन को छोड़ दीजिये, संघ की रक्षा कीजिये जिससे लोग स्वच्छन्दतापूर्वक धर्म का पालन कर सकें। किन्तु, जब उस कामांध राजाने जरा-सा भी उनकी बातों पर कान न दिया तब हताश होकर उस सूरि ने कठिन प्रण किया कि यदि मैं इस गर्दभिल्ल राजा का सहसा उन्मूलन न कर दूँ तो मुझे संघपातकी महान् दोष होवे। तथा इस धर्मसूरि ने चाणक्य के समान अपने प्रयत्न से इस दुष्ट राजा को नीचा दिखाकर ही छोड़ा। किन्तु, इस प्रकार प्रतिज्ञा करने के बाद सूरि ने सोचा कि यह महाबली पराक्रमी राजा गर्दभिल्ल गर्दभी महाविद्या का पूर्ण अधिकारी है; इसलिये इसकी जड़ खोदने के लिये उपाय करना चाहिये। वह एक पागल का वेष बनाकर चौक, चबूतरे, राजमार्ग इत्यादि स्थानों पर पागल के समान बकने लगा —"यदि गर्दभिल्ल राजा है तो इससे बढ़कर क्या हो सकता है, यदि अन्तःपुर रमणीय है, तो इससे बढ़कर क्या चाहिये, यदि लोग सुन्दर कपड़े पहने हैं तो फिर क्या चाहिये, यदि भिक्षाटन से ही पेट भर जाता है तो फिर क्या आवश्यकता है, यदि शून्य घर में सोता हूं तो फिर चाहिये ही क्या ?" उसका यह प्रलाप सुनकर मंत्रियों ने भी उसे बहुत समझाया; किन्तु फल उलटा ही हुआ।

कालक और शकराज

इस प्रकार विचरण करता हुआ वह सूरि शककूल (सगकूलं) पहुँचा। वहाँ के सामन्त शाही कहलाते थे तथा सकल नरेंद्र चंद्रचूड़ामणि को साहानसाही (शहनशाह) कहते थे। वह सूरि एक शाही के यहाँ ठहर गया। एक दिन शहनशाह के यहाँ से एक दूत आया। उस दूत को देखते ही शाह का चेहरा फीका पड़ गया। सूरि के पूछने पर शाह ने कारण बतलाया कि जिससे शहनशाह नाराज हो जाते हैं, उसके पास अपनी छाप मुहर देकर तलवार भेजते हैं और उसी तलवार के घाट उसे उतरना पड़ता है; अन्यथा सारे कुल को तलवार का शिकार

१ कालयसूरिसहुयभगिणी सरस्सई नाम साहुणी। वियारभूमीए निग्गया समाणी दिट्ठा उज्जेणीनयरिसामिणा गद्दभिल्लरारइणा अज्झोववन्नेण य। कालकाचार्यकथानक पृ० ३८

बनना पड़ता है। ऐसे ९५ और शाहों से शहनशाह क्रुद्ध हैं। इसपर सूरि ने शाह को समझाया कि आप ९५ अन्य शाहों को भी दूत भेजें कि वे अपना प्राण व्यर्थ न खोवें और सब हिंदुक देश में चलें। सभी ने अपना शस्त्रास्त्र इकट्ठा कर लिया और सूरि से पूछा कि अब क्या करना चाहिये ? उनके आदेश से सभी सेना और सामान के साथ सिंधु नदी पार कर हिंदुक देश चले। यहाँ से वे सवार होकर सुराष्ट्र विषय (सूरत या सौराष्ट्र) के पास पहुँचे। किंतु, वर्षा आरंभ होने के कारण वे आगे न बढ़ सके और सौराष्ट्र को ९६ हिस्सों में बाँटकर वहीं ठहर गये।

शकों का आक्रमण

शरद-ऋतु के पहुँचने पर कालक ने अपनी कार्यसिद्धि का शुभ लक्षण देखा और शाहियों को उज्जयिनी लेने के लिये उत्तेजित किया; क्योंकि यह मालवा की कुंजी थी। शाहियों के पास धन की कमी थी। सूरि ने प्रचुर धन से उनकी सहायता की। लाट (कच्छ) के राजा ने भी शाहियों का साथ दिया। उज्जयिनी चारों ओर से घेर ली गयी, जिससे गर्दभिल्ल की सेना की एक न चली।

गर्दभिल्ल की हार और शकराजवंश

अब गर्दभिल्ल ने अपने जादू का बल चलाना चाहा। उसने घोषित कर दिया कि उसके जादू से नवें दिन गदहिया प्रकट होगी। उसकी रेंक से सभी चौपाये और मनुष्य बेहोश होकर गिर पड़ेंगे और उनके मुँह से खून निकलने लगेगा। सूरि ने लोगों को चेता दिया और २०० चुने हुए वीरों को धनुष-बाण से सुसिज्जत कर किले के द्वार पर खड़ा करने का आदेश दिया और कहा कि जैसे ही गदही बोलना चाहे, उसका मुँह बाणों की बौछार से भर दो। ठीक ऐसा हीं किया गया। इससे गदही व्याकुल होकर अपने लीद और मूत्र से अपने जादूगर को ही परेशान करने लगी। गर्दभिल्ल कैद कर लिया गया। उसे सूरि के चरणों पर गिरना पड़ा। सूरि के आदेशानुसार शाहियों ने उसे देश से निकाल दिया और वह दरिद्र के समान अपना जीवन बिताने लगा।

अन्य शाहियों ने उस शाही को शहनशाह माना, जिसने सूरि को आश्रय दिया था, और वह राज्य भोगने लगा। शककूल (शगकूल) से आने के कारण वे शकवंशी कहलाये। इस प्रकार यहाँ शक राजवंश की स्थापना हुई।

अब यह प्रश्न उठता है कि गर्दभिल्लवंश कौन है ? पुराणों[1] में लिखा है कि सात

---

१ पार्जिटर डायनेस्टीज ऑफ दी कलियुग पृ० ४५-४६।

गर्दभिल्ल राजाओं ने ७२ वर्ष राज्य किया, उसके बाद शकों का राज्य हुआ। वास्तव में इस गर्दभिल्लवंशी राजा का नाम दरपण (दर्पण) था। जैन परंपरा के अनुसार इस दर्पण राजा का समय ४५३-४६६ वीर संवत् है और कालक द्वितीय का समय वीर संवत् ४५३ है। अतः दोनों का काल ठीक बैठता है।

शकों का पूर्वस्थान

प्रोफेसर, डाक्टर स्टेनकोनो ने अपने ग्रंथ[1] में इस विषय पर पूर्ण प्रकाश डाला है। उनके अनुसार शकों का प्राचीन स्थान पामीर देश में हिंदुकुश से उत्तर, बलख और सागडियाना से पूर्व, कास्पियन सागर तक फैला हुआ था तथा बाद में वे सिस्तान (शकस्थान) में भी पाये गये हैं। पारसी ग्रंथों से भी इसकी पुष्टि होती हैं तथा चीनी आधार भी हमें इसी निर्णय पर पहुँचाते हैं। ईसा पूर्व प्रथम शताब्दी में वे सिंध देश में बस गये। ई० पू० ८८ में मिथ्रडेट्स द्वितीय की मृत्यु के बाद सिस्तान के शक पार्थिया से स्वतंत्र हो गये और अपने विजय-मार्ग पर सिंध पहुँचे। टालेमी (१६० ई० सन्) भी काठियावार में शक राज्य का उल्लेख करता हैं। ई० पू० ६० में शकों का राज्य हिंदुकदेश में सिंध, काठियावार और मालवा तक फैल गया।

विक्रमादित्य—

कुछ समय के बाद विक्रमादित्य नामक वीर पैदा हुआ। यह गंधर्वसेन का पुत्र था, जो शाप के कारण गदहे का स्वरूप बनाता था। गुजरात के राजा ताम्रलिप्तर्षि की कन्या मदनरेखा से इसका विवाह हुआ। मदनरेखा की मा ने गर्दभावरण को जला दिया, जिससे गंधर्वसेन की मृत्यु हो गयी। गर्भिणी मदनरेखा ने विक्रम को पैदा किया तथा एक दासी से भर्तृहरि पैदा हुए। संभवतः इस गर्दभिल्लवंश का राजचिह्न गदहा था, इसी कारण इस वंश के राजाओं का गदहे से संबंध जोड़ा जाता है। अन्य स्थान पर विक्रम को गर्दभिल्ल का ही पुत्र बतलाया गया है। कुछ काल के बाद उस प्रसिद्ध वीर ने सारे शकवंश[2] का नाश किया और सारे मालवा पर अपना अधिकार कर लिया। इसने बहुतों को युद्ध में हराया और अपने सुकार्य से अक्षय पुण्य प्राप्त किया। राज्य में धन के प्राचुर्य से इसने प्रजा को ऋणमुक्त कर दिया और अपने नाम का संवत्[3] भी चलाया। भविष्यपुराण के अनुसार भी इस महान् वीर विक्रम ने अपने नाम का संवत् चलाया।

---

१ कारपस इंसक्रिप्सनं इनडिकेरम्, खरोष्ट्री लेख, भाग २, १९२९, आक्सफोर्ड प्रेस।

२ कालांतरेण केणाइ उप्पादिट्ठा सगाण तं वंसम्।
जावो मालवराया नामेणं विक्कमाइच्चो ॥६५॥ पृष्ठ ४३।

३ नियवो संवच्छरो जेण (६८)। पृष्ठ ४३।

उपर्युक्त विचार से प्रकट होता है कि गर्दभिल्ल (दपण) की मृत्यु के बाद ही विक्रम का जन्म हुआ। अतः, हम इस तथ्य पर पहुंचते हैं कि ई० पू० ५७ में विक्रम का जन्म शकराज्य स्थापित होने के ३ या ४ वर्ष बाद हुआ। छोटी उम्र में इसे देश से शत्रुओं के निकालने का भार उठाना पड़ा। १८ वर्ष की अवस्था (ई० पू० ३९) में इसने शकों को मार भगाया और गद्दी पर बैठा जैसा कि काश्मीर की संशोधित राजवंशावली[1] से प्रकट होता है। अतः, यह मानना पड़ेगा कि यह विक्रम संवत् विक्रमादित्य के राज्याभिषेक काल से नहीं; बल्कि उसके जन्मकाल से है। काश्मीर में हिरण्य के अपुत्र स्वर्गासीन होने पर बड़ी अशान्ति फैल गयी। विक्रमादित्य ने वहां शांन्ति स्थापित किया और वहां का भी राजा बन बैठा। इसने पुनः कालिदास (मातृगुप्त) को वहां का राजा बनाकर भेजा। किन्तु ४ वर्ष ९ मास ही राज्य करने के बाद अपने संरक्षक की मृत्यु का समाचार सुनकर मातृगुप्त ने शोक से सन्यास धारण कर लिया। इसकी मृत्यु १११ वर्ष की अवस्था में ९३ वर्ष राज्य करने के बाद ५४ ई० सन् में शकों के षड्यंत्र से पैठनक के समुद्रपाल योगी के हाथ से हुई। बाद में यह समुद्रपाल योगी शालिवाहन का दरबारी हुआ। उसकी मृत्यु से प्रजा बहुत दुःखी हुई।[2]

संवत् किसने चलाया ?

श्री राखालदास बनर्जी के अनुसार इस संवत् का प्रवर्तक नहपान तथा फ्लीट के अनुसार इसका श्रेय कनिष्क को है। सर जान मार्शल और रैप्सन के अनुसार[3] विक्रम संवत् का प्रवर्तक अजेस (Azes) है। किन्तु, स्टेनकोनो के विचार में इसका श्रेय उज्जयिनी के विक्रमादित्य को और हरितकृष्ण दे तथा काशीप्रसाद जायसवाल[4] के मत में गौतमीपुत्र शातकर्णि को है।[5]

शकारि—

संभवतः विक्रमादित्य उसका नाम था तथा शकारि उसकी उपाधि थी। शकारि शब्द की व्युत्पत्ति दो प्रकार से की जा सकती है। शकानां अरिः और शका अरयो यस्य। इसके

१ (क) विज्ञान, प्रयाग १९९४, अप्रैल।

(ख) The Revised Chronology of Kashmir Kings, Journal of Indian History, Vol. XVIII, P. 58.

२ स्वर्गं गते विक्रमार्के भद्रबाहौ च योगिनि।
प्रजाः स्वच्छन्दचारिण्यो बभूवुः पापमोहिताः ॥३॥
श्री भट्टारक इन्द्रनन्दि [लगभग १३ वी शताब्दी] प्रणीत 'नीतिसार'।

३ जर्नल रायल एसायिटिक सोसाइटी १९१४, पृ० ९७३।

४ जर्नल बिहार उड़ीसा रिसर्च सोसाइटी, भाग १६, पृ० ६१।

५ इस सम्बन्ध में विशेष प्रकाश के लिये 'किशोर' विक्रमांक, भाग ६ किरण १ देखें।

संबंध में दोनों व्युत्पत्ति ठीक जँचती है; क्योंकि इसने शकों का सत्यानाश किया तथा उन्हें मार भगाया और अन्त में शकों के साथ लड़ते-लड़ते उन्हीं के षड्यंत्र से वीरगति को प्राप्त हुआ। अतः, लोगों ने उसके प्रति अपना आदर भाव दिखाने के लिये उसके नाम का संवत् चलाया जिसे पहले लोग कृत संवत्, बाद में मालवगणना तथा कालांतर में विक्रम संवत् कहने लगे।[१] इस प्रकार हम देखते हैं कि जैन साहित्य में विक्रमादित्य का एक ठोस स्थान है और इस साहित्य के आधार पर हमें विक्रमादित्य को ई० पूर्व प्रथम शताब्दी में रखने में विशेष सहायता मिलती है।

---

१ यातेषु चतुर्षु कृतेषु सौम्येष्वसितचोत्तरपदेषु इह वत्सरेषु
=३४३ खृष्टाब्द [गुप्तशिलालेख पृ० ७५]

कृतेषु चतुर्षु वर्षशतेषु अष्टाविंशेषु। =३७१ खृष्टाब्द [वहीं २५३]

श्रीमालवगणाम्नाते प्रशस्ते कृतसंज्ञिते।
एकषष्ट्यब्दिके प्राप्ते समाशतचतुष्टये ॥=४०४ खृष्टाब्द [वहीं ८७, १५८]

मालवानां गणस्थित्या याते शतचतुष्टये।
त्रिनवत्यधिकेऽब्दानां ऋतौ सेव्यघनस्वने ॥=४३६ खृष्टाब्द [वहीं ६५--६६]

विक्रमाख्यकाल धौलपुर के एक शिलालेख में संवत् ८६८=८४१ खृ० सन् [इण्डियन ऐंटिक्वेअरी भाग २० पृ० ४०६]

तथा श्रीएकलिंगजी के शिलालेख में श्रीविक्रमनृप काल १०२८ का उल्लेख है। =६७१ खृ० सन्
(जर्नल बाम्बे राथल एशियाटिक सोसाइटी, भाग २२, पृ० १६६)

समीक्षा

भारतीय दर्शन—लेखकः प्रो० बलदेव उपाध्याय, एम० ए०, साहित्याचार्य; प्रकाशकः बाबू कृष्णदास गुप्त, ठठेरी बाजार, काशी; पृष्ठ संख्या : ६०३; मूल्यः ३॥) ।

जैसा कि श्री पं० गोपीनाथ कविराज ने प्राक्कथन में लिखा है, इस ग्रन्थ में लेखक ने 'भारतीय तत्त्व-ज्ञान का एक साङ्गोपांग विवरण ..... प्रस्तुत किया है ।' प्रारम्भ में लगभग पचास पृष्ठ का एक उपोद्घात है जिसमें 'दर्शन' तथा 'भारतीय दर्शन' पर कुछ विचार हैं। यही पुस्तक का पहला परिच्छेद है । इसके बाद तेरह परिच्छेदों में श्रौत-दर्शन, गीता-दर्शन, चार्वाक-दर्शन आदि से लेकर अद्वैत-वेदान्त, वैष्णव-तन्त्र, रामानुज, मध्व, निम्बार्क, वल्लभ आदि के मतों का विवरण है । पन्द्रहवाँ परिच्छेद शैव-शाक्त-तन्त्र का प्रतिपादन करता है। अन्तिम परिच्छेद में भारतीय दर्शन का उपसंहार है जिसमें दर्शनों के समन्वय तथा भारतीय दर्शन के भविष्य पर विचार व्यक्त किए गए हैं ।

प्रत्येक दार्शनिक सम्प्रदाय का विवरण तीन शीर्षकों के अन्तर्गत दिया गया है, अर्थात् साहित्य, सिद्धान्त और समीक्षा । साहित्य के अन्तर्गत लेखक ने विभिन्न आचार्यों के जीवन पर सरस टिप्पणियां दे दी हैं । इससे पुस्तक की रोचकता अवश्य बढ़ जाती है, पर अनावश्यक विस्तार भी हो जाता है । विशेषतः हिन्दू दार्शनिकों के सम्बन्ध में लेखक ने प्रशंसात्मक वाक्यों का स्वच्छन्द प्रयोग किया है, जैसे 'सुबन्धु ने अपनी वासवदत्ता में 'न्यायसंगतिमिव उद्योतकरस्वरूपाम्' लिखकर न्याय-जगत में उद्योतकर की विमलकीर्त्ति की सूचना दी है; तथा 'दिङ्नागीय आक्रमणों से क्षीणप्रभ न्याय विद्या की (के ?) विमल प्रकाश को सर्वत्र विस्तार कर उद्योतकरने अपना नाम सार्थक कर दिखाया' पृ० (२३८—३९) । न्याय-दर्शन के प्रसिद्ध आचार्यों का वर्णन लगभग ८ पृष्ठ में है; इसी प्रकार अद्वैत-वेदान्त के आचार्यों पर सात पृष्ठ लिखे गये हैं । यदि इन वर्णनों के बदले विभिन्न आचार्यों के मौलिक मन्तव्यों एवं पारस्परिक मतभेदों का उल्लेख रहता, तो पाठकों का अधिक लाभ होता ।

सिद्धान्तों का निरूपण प्रायः मूलग्रन्थों के आधार पर किया गया है । लेखक का मूल संस्कृत-साहित्य से अच्छा परिचय मालूम पड़ता है । उपनिषदों की अपेक्षा वेदों का, और बौद्ध-दर्शन की अपेक्षा जैन-दर्शन का विवरण अधिक विस्तृत और सुन्दर है । विशेषतः बौद्ध दार्शनिक संप्रदायों के साथ लेखक ने न्याय नहीं किया है । भारतीय दार्शनिकों में नागार्जुन का स्थान बहुत ऊँचा है, किन्तु प्रस्तुत ग्रन्थ में उसकी तर्क-पद्धति का परिचय कराने का बहुत ही अपर्याप्त प्रयत्न किया गया है । लेखक ने न्याय, वैशेषिक आदि हिन्दू दर्शनों पर अलग अध्याय दिये हैं जिससे उन दर्शनों को बहुतसी विशेषताओं का समावेश हो गया

है। अद्वैत-वेदान्त के अध्याय में गौडपाद कारिका का परिचय कुछ अधिक संक्षिप्त है। लेखक ने अद्वैत-वेदान्त का विस्तृत विवरण प्रस्तुत किया है, किन्तु यदि शंकर-परवर्त्ती-आचार्यों के मत पर कुछ अधिक लिखा जाता, तो अच्छा होता। लेखक महोदय रामानुज-दर्शन के महत्त्व को हृदयंगम करने में नितान्त असफल हुये हैं और उसके यौक्तिक आधार को स्पष्ट नहीं कर सके हैं। निम्बार्क, मध्व, वल्लभ आदि का दर्शन भी बहुत संक्षेप में दिया गया है। विशेषतः मध्व और उनके अनुयायियों द्वारा की गई अद्वैत की समालोचना को अधिक स्थान दिया जा सकता था। पंचरात्र, शैव, शाक्त आदि मतों के साधनात्मक पहलू को विस्तार से दिखाया गया है, किन्तु उनका दार्शनिक विवरण पर्याप्त नहीं है।

पुस्तक का सब से कमजोर हिस्सा उसका समीक्षात्मक अंश है। लेखक ने तर्क-पूर्ण आलोचना के बदले प्रशंसात्मक या विपरीत वाक्य ही अधिक दिये हैं। उदाहरण के लिये न्याय की आलोचना करते हुए लेखक का कथन है कि 'सच्चा दर्शन वही हो सकता है जिसमें एक नित्य पदार्थ की सत्ता मानकर समस्त पदार्थों का सम्बन्ध उसी से प्रदर्शित किया जाय तथा सद्वस्तु के एकत्व पर जोर दिया जाय' (पृ० २७४)। ऐसी अलोचना की उपयोगिता संदिग्ध है। इसी प्रकार अद्वैत-वेदान्त की समीक्षा में कहा गया है कि 'इसके अनुशीलन से आचार्य शंकर की अध्यात्म-विषयक अलौकिक विद्वत्ता तथा तर्क-विषयक असाधारण निपुणता का पर्याप्त परिचय मिलता है।' तथापि हमें यह कह देना चाहिये कि कुल मिलाकर लेखक विभिन्न दर्शनों के प्रति सहानुभूति रख सका है।

हिन्दी में दर्शन-ग्रन्थों की बड़ी कमी है। अभी तक विभिन्न भारतीय दर्शनों के प्रामाणिक और विस्तृत विवरण हिन्दी में उपलब्ध नहीं हैं। हमारे आलोच्य ग्रन्थ का क्षेत्र बहुत विस्तृत है। अतएव कतिपय कमियों के रहते हुए भी वह हिन्दी-प्रेमियों द्वारा संग्रहणीय है।

—देवराज, [एम० ए०, डी० फिल०]

अर्द्धकथा—लेखकः पण्डित बनारसीदास जैन; सम्पादकः डाक्टर माताप्रसाद गुप्त, प्रयाग विश्वविद्यालय, १९४३; पृ० १५+५०+६=७१; मूल्य : १)।

यह अर्द्धकथा हिन्दी साहित्य की सर्व प्रथम आत्मकथा है जो संवत् १६९८ अगहन मास शुक्ल ५ सोमवार को पण्डित बनारसीदास काशीवासी द्वारा लिखी गयी थी। इसमें उल्लिखित घटना-तिथियाँ गणना से ठीक बैठती हैं जैसा कि परिशिष्ट में दिखाया गया है। यह पुस्तक मध्यकालीन उत्तर भारत की सामाजिक अवस्था तथा धनी और निर्धन प्रजा के सुख-दुःख का परिचय दिलाती है। विशेषकर हमें हिन्दू प्रजा की सच्ची दशा जानने के लिए ऐसी ही पुस्तकों का आश्रय लेना पड़ेगा तथा संभव है कि हमें मुगलकालीन भारतीय

इतिहास में अनेक संशोधन भी करना पड़े। इनमें आँखों देखी बातों का उल्लेख है। इससे इसकी महत्ता और भी बढ़ जाती है।

कविता की दृष्टि से भी इसका स्थान बहुत उच्च है। इसमें साहित्यिक परम्परा से मुक्त, प्रयास रहित घटनाओं का सजीव वर्णन मनोहर है। इसकी भाषा चलती फिरती है। आशा है, इतिहास प्रेमी विद्वान् तथा हिन्दी के साहित्य धुरन्धर इसे अपनावेंगे। हम सम्पादक महोदय का इस दुर्लभ महान् ग्रन्थ को जनता की दृष्टि में लाने का कष्ट स्वीकार करने के लिये धन्यवाद द्वारा अभिनन्दन करते हैं। आशा है, आप अन्य भी अर्द्धकथाओं की खोज जारी रखेंगे। —देवसहाय त्रिवेद [एम० ए०]

धर्म का आदि प्रवर्त्तक (इतिहास की एक नवीन खोज)—लेखकः स्वामी कर्मानन्द; प्रकाशकः मंत्री, श्री चम्पावती जैन पुस्तकमाला, अम्बाला छावनी; जनवरी १९४० में प्रकाशित; मूल्य आठ आने; छपाई-सफाई साधारण; पृष्ठ संख्या २०२।

यह धार्मिक अनुसंधान की नवीन पुस्तक है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि स्वामीजी ने अनेक प्राचीन ग्रन्थों का अवलोकन किया है। भगवान् ऋषभदेव की चर्चा प्रायः आप सभी वेदों में पाते हैं। इसे सिद्ध करने के लिये आपने स्वतन्त्र प्रतिभा से काम लिया है। शिव, अग्नि, ब्रह्मा, यम, ऋषभ आदि सभी शब्द आपके सिद्धान्त से पर्यायवाची हैं (पृष्ठ ४२, ४४, ४७)। वेदों में सवत्र इनकी स्तुतियां हैं, आपके विचार से वे सब ऋषभदेवजी की स्तुतियां हुईं। तात्पर्य यह कि अनेक खींचातानी की सृष्टि करके आपने आरम्भ के दो-तीन प्रकरण लिखे हैं। लेख-परम्परा में विषय-प्रतिपादन का प्रवाह नहीं है, बीच-बीच में 'धर्मान्धों' को फटकार बताने के लिये भी कुछ पंक्तियाँ आ गई हैं। 'यमयमी सूक्त' द्वारा लेखक को यही सिद्ध करना था कि यम और श्री ऋषभदेवजी अभिन्न व्यक्ति थे। जैन-मान्यता के अनुसार प्राचीन काल में मनुष्य यमज ही उत्पन्न होते थे और वे स्वभावतः पतिपत्नी होते थे। विवाह-व्यवस्था पहले-पहल ऋषभदेवजी ने ही चलाई। साम्य इस प्रकार दिखलाया गया है कि यमयमी भी भाई-बहन थे, फिर पति-पत्नी हुए इत्यादि। इसी साम्य पर यम और ऋषभदेव अभिन्न बताये गये और इसीलिये यम के सभी पर्यायवाची शब्द ऋषभ के पर्यायवाची हो गये। हां, तो इसी बात को सिद्ध करने के लिये 'यमयमी सूक्त' की कथा मात्र न देकर पं० चमूपति के यमयमी सूक्त सम्बन्धी लेख की बेतरह धज्जी उड़ायी गई है, जो प्रकृत में अनुपयुक्त है। हां, इस प्रकरण का शीर्षक "यमयमी सूक्त-सम्बन्धी मेरी जानकारी" फब सकता था।

५३ पृष्ठ से आगे अनेक जैनेतर पुराणों के उद्धरण देकर ऋषभदेवजी को अत्यन्त प्राचीन सिद्ध किया गया है। ऋषभदेवजी अत्यन्त प्राचीन से भी प्राचीन हों, इससे हमारा (भारतीय आर्यों का) गौरव है। किन्तु, स्वामीजी का एक आलोचक की तरह पुराणों के निर्माणकाल

पर भी ध्यान जाना चाहिये था। ५६ पृष्ठ के बाद ऋषभदेवजी की प्राचीनता सिद्ध करने के लिये शिलालेख आदि प्रमाण एकत्र किये गये हैं। उनका संकलन सुन्दरता से हुआ है। ८९ पृष्ठ से १०१ पृष्ठ तक योग की प्राचीनता, योग के तत्त्व और योग का आचार धर्म आदि बड़े सुन्दर ढंग से लिखे हैं।

१०९ पृष्ठ से १३४ तक एक कहानीकार की तरह ऋषभदेवजी का आकर्षक जीवन चरित्र स्वामीजी ने अच्छा लिखा है। इसके बाद कई पृष्ठों में वेदान्त और सांख्य का मत-प्रतिपादन करके जैन-सिद्धान्तों को स्पष्ट किया है। इसके बाद भी अनेक गम्भीर विषयों पर आपने विचार किया है। लेख से आपकी बहुज्ञता सिद्ध होती है पर जैन-जनता को प्रसन्न करने का उत्कट भाव छिपा नहीं रह पाता।

ग्रन्थ बुरा नहीं है, बड़े परिश्रम से लिखा गया है। अस्तु, दूसरे ढंग से भी वैदिक या जैन-धर्म का समन्वय स्थापित किया जाता तो अच्छा होता। इत्यलम्।

पावन-प्रवाह—लेखक: श्री० पं० चैनसुखदासजी, न्यायतीर्थ; अनुवादक : श्री० पं० मिलापचन्द जी, न्यायतीर्थ; प्रकाशक : श्रीप्रकाश शास्त्री, मन्त्री—सद्बोध ग्रन्थमाला, जयपुर; छपाई-सफाई सुन्दर; मूल्य: ।≈) ।

यह संस्कृत-पद्यमय आध्यात्मिक ग्रन्थ है। साथ ही हिन्दी अनुवाद भी है। इसमें निम्न-लिखित चौदह प्रकरण हैं—अनासक्तिः, विवेकज्योतिः, उपासनातत्त्वम्, स्वानुभवः, दोषान्वेषणम्, लोकैषणा, मृत्युचिन्ता, कर्मविवेकः, ज्ञानलिप्सा, निन्दा-प्रशंसा, भिक्षा, सत्यदेवता, कर्त्तव्येक्षणम् और आलस्यशत्रुः। सम्पूर्ण ग्रन्थ में २४० श्लोक, अधिकतर अनुष्टुप और उपजाति छन्दों में लिखे गये हैं। शान्तरस के उपयुक्त ही प्रसाद गुण का गुम्फन है। उपयुक्त शीर्षकों से ही ग्रन्थ के विषय अवगत हो जाते हैं। ग्रन्थ देखने से ग्रन्थकार की प्रतिभा और अध्यात्मतत्त्वज्ञता का परिचय मिलता है। यों तो शास्त्रों में प्रतिपादित विषयों का ही संकलन पण्डितजी ने किया हैं, पर 'स्वानुभवः' प्रकरण में तथा और एकआध स्थलों में नवीन विषय भी लिखे हैं। हाँ, 'गच्छतः स्खलनं क्वापि भवत्येव प्रमादतः' इस न्याय के अनुसार प्रूफ आदि की कुछ अशुद्धियाँ रह गयीं हैं। 'तत्त्व' और 'महत्त्व' शब्दों में सर्वत्र एक ही 'तकार' मुझे मिला। तत् और महत् शब्दों से 'त्व' प्रत्यय जोड़कर दोनों शब्द बनते हैं। उपासनातत्त्व के दूसरे श्लोक के द्वितीय चरण में छन्दोभङ्ग दोष है, और भी कई स्थलों में अनुस्वार तथा विसर्ग छूट गये हैं, एवं कई व्यर्थ भी दिये गये हैं। तथापि ग्रन्थ बढ़िया और संग्रहणीय है। पूजा-काल में अथवा एकान्त में मनन करने से आत्मोन्नति में यह अवश्य ही सहायक हो सकता है। हिन्दी अनुवाद की भी भाषा सुन्दर और आशुगम्य है। संस्कृत न जानने वाले भी इससे पूरा लाभ उठा सकते हैं। हाँ दुनिया, मुह, महत्ता आदि के स्थान पर दुनियां, मुंह, महानता आदि व्याकरण-विरुद्ध शब्द भी व्यवहृत हुए हैं।

शान्तशृंगारविलास :—प्रणेता पं० के० भुजबली शास्त्री, विद्याभूषण; प्रकाशक: श्री निर्मलकुमार जैन, आरा; मूल्य: सदुपयोग।

शास्त्रीजी की यह सुन्दर कृति पठनीय है। सच पूछिये तो इन २५ श्लोकों की यह मुक्ता-हार है। किसी भी कान्तानुरक्त पुरुष को श्रीजिनेन्द्र के चरणों में ये कविताएँ बरबस पहुंचाने की क्षमता रखती हैं। इसी उद्देश्य से कवि ने रम्भाशुक सम्वाद आदि के अनुकरण पर एक शृंगारी दूसरे शान्तपुरुष के परस्पर संवाद के रूप में इस ग्रन्थरत्न का प्रणयन किया है। अन्त में शृंगारी पराजित होकर शान्त के मत का समर्थन करता है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि छपाई, सफाई, विषय, आकार आदि सभी प्रकार से पुस्तक उपादेय है। हाँ, चतुर्थ श्लोक के तृतीय चरण में एक अशुद्धि रह गयी है।

—कमलाकान्त उपाध्याय, [व्याकरण-साहित्य-वेदान्ताचार्य, काव्यतीर्थ]

श्रीवर्द्धमानपुराण :—रचयिता: कविरत्न श्री नवलशाह; संशोधक और सम्पादक: पं० पन्नालाल जैन, 'वसंत' साहित्याचार्य; पृष्ठ संख्या: ४२६; साइज: डबल क्राउन १६; छपाई और सफाई सुन्दर; प्रकाशक: मूलचन्द किसनदास कापड़िया, मालिक, दिगंबर जैन पुस्तकालय सूरत; वीर सं० २४६८; मूल्य २), पक्की जिल्द २॥)।

उपर्युक्त पुस्तक श्रीनवलशाहजी की पद्यात्मक रचना है। रचना विभिन्न छन्दों में की गयी है। इनमें गाथा और शार्दूलविक्रीडित छन्द कदाचित् रचयिता की निज की रचनाएँ नहीं हैं। इस पुस्तक को एक धार्मिक पुराण कहना उपयुक्त होगा। इसमें जैन धर्म के अंतिम तीर्थंकर भगवान वर्धमान (महावीर) का संक्षिप्त जीवन-परिचय तो है ही; साथ ही प्राचीन जैन-गाथाओं तथा शास्त्रीय बातों का पूर्ण उल्लेख है। इसे काव्य के साथ धर्मशास्त्र भी कहना अनुचित न होगा। कवि ने 'भगवान का जन्माभिषेक' तथा वैराग्य वर्णन में अपने काव्य-कौशल का अच्छा परिचय दिया है। हाँ, कहीं-कहीं भाषा में उलझन और शिथिलता भी आ गयी है, इसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता। पद्यों में मात्रा की गड़बड़ी बेहद खटकती है। संशोधक महोदय को या तो पुस्तक का समुचित संशोधन करना चाहता था, या मूल रूप में ही रखना चाहता था। पता नहीं चलता कि कौन-सा रूप संशोधित है और कौन-सा रूप असली है। संशोधक को इसके लिए कोई सांकेतिक चिन्ह देना चाहता था। ऐसा न होने से पाठकों के सम्मुख एक बड़ी उलझन उपस्थित हो गयी है। आशा है, दूसरे संस्करण में संशोधक महोदय इस ओर अवश्य ध्यान देंगे। फिर भी पुस्तक बहुत ही उपयोगी है। पाठकों को इसे अवश्य पढ़ना चाहिए।

—बनारसी प्रसाद भोजपुरी, [साहित्यरत्न]

जैन-सिद्धान्त-भवन का वार्षिक विवरण

[१९-६-४२—७-६-४३]

वीर संवत् २४६८ ज्येष्ठ शुक्ल पञ्चमी से वीर संवत् २४६९ ज्येष्ठ शुक्ल चतुर्थी तक भवन के सामान्य दर्शक-रजिस्टर में ६००० व्यक्तियों ने हस्ताक्षर किये हैं। परन्तु हस्ताक्षर करने की कृपा न करने वाले व्यक्तियों की संख्या भी इससे कम नहीं होगी।

विशिष्ट दर्शकों में से निम्नलिखित महानुभावों के शुभ नाम विशेष उल्लेखनीय हैं: श्रीमान् पं० महेन्द्रकुमार जैन, शास्त्री, न्यायाचार्य, काशी; श्रीमान् सी० एस० मल्लिनाथ, भूतपूर्व सम्पादक 'जैन-गजट', मद्रास; सर मिर्जा एम० इस्माइल, वर्तमान दीवान जयपुर; श्रीमान् पं० परमानन्द जैन, शास्त्री, सरसावा; श्रीमान् पं० बलदेव उपाध्याय, एम. ए., साहित्याचार्य, प्रो० हिन्दू विश्व-विद्यालय काशी; श्रीमान् एस. पी. प्रसाद, प्रो० साइन्स कॉलेज, पटना; श्रीमान् के. पी. सिनहा, प्रो० जी. बी. बी. कालेज, मुजफ्फरपुर। इन विद्वानों ने अपनी बहुमूल्य शुभ-सम्मतियों के द्वारा पूर्ववत् भवन की सुव्यवस्था एवं संग्रह आदि की मुक्तकण्ठ से प्रशंसा की है।

पाठक : भवन के सामान्य पाठक वे हैं, जो भवन में ही बैठकर अभीष्ट ग्रन्थों का अवलोकन करते हैं। क्योंकि सर्वसाधारण जनता को ग्रन्थ घर ले जाने के लिये नहीं मिलते। इसलिये प्रायः स्थानीय पाठकों को नियमानुसार भवन में ही आकर अध्ययन करना पड़ता है। इनके लिये हर प्रकार की सुविधाएँ भी दी जाती हैं। इनके अतिरिक्त अपवादरूप में विशेष नियम से जिन-जिन खास-खास व्यक्तियों को घर ले जाने के लिये ग्रन्थ दिये गये हैं उन ग्रन्थों की संख्या ३२६ है। इन ग्रन्थों से स्थानीय पाठकों के अतिरिक्त श्रीमान् पं० महेन्द्रकुमार जैन, शास्त्री, न्यायाचार्य, स्याद्वाद महाविद्यालय, काशी; श्रीमान् उमाकान्त प्रेमचन्द शाह, बडोदा; श्रीमान् प्रो० ए. आर. कृष्ण शास्त्री, महाराज कॉलेज, मैसूरु; श्रीमान् पं० परमानन्द जैन, शास्त्री, वीर-सेवा-मन्दिर, सरसावा; श्रीमान् पं० कैलाशचन्द्र जैन, शास्त्री, स्याद्वाद महाविद्यालय, काशी; श्रीमान् गोविन्द पै, मंजेश्वर; आदि बाहर के विद्वानों ने भी लाभ उठाया है। हां, स्थानीय जैन कॉलेज ने तो भवन के संग्रह से सबसे अधिक लाभ उठाया है।

संग्रह: पूर्ववत् इस वर्ष भी मुद्रित प्राकृत, संस्कृत, हिन्दी, मराठी, गुजराती, कन्नड एवं तमिल आदि भारतीय अन्यान्य भाषाओं के चुने हुये ६० और अंग्रेजी के १० कुल ७० ग्रन्थ भवन में संग्रहीत हुये हैं। अन्यान्य भाषाओं की पत्र-पत्रिकाओं की फाईलों की संख्या भी लगभग इतनी ही है।

भवन को इस वर्ष ग्रन्थ प्रदान करने वालों में स्त्रीसमाज, आरा; आर्किओलाजिकल

मैसूरु; श्रीमान् प्रो० हीरालाल जैन, अमरावती; श्रीमान् पं० के० भुजबली शास्त्री, आरा; श्रीमान् बा० नानकचन्द जैन, रोहतक; श्रीमान् बा० नेमिचन्द महावीर प्रसाद जैन, पाण्ड्या, कलकत्ता; श्रीमान् बा० केशर प्रसाद जैन, आरा; श्रीमान् पं० शिवमूर्त्ति शास्त्री बेंगलूरु; श्रीमान वीरचन्द कोदरजी गांधी, फल्टन; आदि के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं।

इस वर्ष शास्त्रप्रतिलिपि का कार्य एक प्रकार से स्थगित-सा रहा। इसके दो कारण हैं: पहला कारण तो कागज का अभाव और दूसरा संस्कृतज्ञ लेखकों की अप्राप्ति। असंस्कृतज्ञ लेखकों से शास्त्रों की प्रतिलिपि कराने से विशेष लाभ नहीं होता है। बल्कि ग्रन्थों में अशुद्धियों की मात्रा और बढ़ जाती है। फिर भी 'केवलज्ञानप्रश्नचूडामणि' एवं 'वेदी-प्रतिष्ठा' ये दो ग्रन्थ बाहर से लिखवाकर मंगवाये गये अवश्य। हां, इस प्रकरण में सुदूर-वर्त्ती जैनेतर कवि हनुमान् वेंकटराय, बेल्लावे (मैसूरु) का नाम नहीं भुलाया जा सकता; जिन्होंने अपने ही से अपनी बहुमूल्य कृतियों की प्रतिलिपियाँ भवन को सादर, सहर्ष समर्पित करने की महती कृपा की है। कृतियाँ निम्न प्रकार हैं: (१) चन्द्रहासाभ्युदय, (२) तिरुल्गन्नडद्गुरुल्,(३) भावनात्रय, [स्वतन्त्र], (४) पूर्वरामचरित, (५) उत्तररामचरित, (६) मुकुन्दानन्द, (७) कुरुकुलकलह, (८) वासवदत्तावृत्त, (९) चारुदत्त, (१०) मध्यमव्यायोग, (११) श्रीकृष्ण दौत्य [परिवर्त्तित] ये कुल ग्रन्थ कन्नड भाषा में हैं और इनकी प्रतिलिपि स्वयं कवि के अपने हाथ की है।

प्रकाशनः भवन के इस विभाग में 'जैन-सिद्धान्त-भास्कर' तथा 'जैन एण्टीक्वेरी' का प्रकाशन पूर्ववत् चालू रहा। इसके अतिरिक्त 'प्रशस्ति-संग्रह' [प्रथम भाग] एवं 'वैद्यसार' की प्रतियां पुस्तकाकार में विक्रयार्थ अलग तैयार कराई गईं। हर्ष की बात है कि पूर्ववत् 'भास्कर' उत्तरोत्तर लोकप्रिय होता जा रहा है और बड़े-बड़े जैनेतर विद्वान् भी इसे बड़े ही आदर की दृष्टि से देख रहे हैं।

परिवर्तनः इस वर्ष निम्नलिखित बहुमूल्य पत्र-पत्रिकाएँ 'जैन-सिद्धान्त-भास्कर' के परिवर्त्तन में प्राप्त हुई हैं:

(1) The Indian Culture, (2) Annals of the Bhandarkar Oriental Research Institute, (3) The Journal of the University of Bombay, (4) The Karnatak Historical Review, (5) The Adyar Library Bulletin, (6) The Journal of the Annamalai University, (7) The Poona Orientalist, (8) The Journal of the United Provinces Historical Society, (9) The Quarterly Journal of Mythic Society, (10) The Punjab Oriental Research, a Quarterly Journal, (11) The Journal of the Royal Asiatic Society of Bengal. (12) The Journal of the Royal Asiatic Society of Bombay, (13) The Fergusson College Magazine, (14) The Journal of the Bihar and Orissa Research Society, (15) The Journal

the Benares Hindu University, (16) The Andhra University College Magazine and Chronicle, (17) The Journal of the Sri Venkatesvara Oriental institute, (18) The Journal of the Sind Historical Society, (19) The Journal of the Tanjore Sarasvati Mahal Library, (20) The Jaina Gazette. (21) The Bombay Theosophical Bulletin.

हिन्दी : (२२) नागरी प्रचारिणी पत्रिका, (२३) भारतीय विद्या, (२४) साहित्य-सन्देश, (२५) अनेकान्त, (२६) सम्मेलन-पत्रिका, (२७) किशोर, (२८) वैद्य, (२९) धर्मदूत, (३०) जैन महिलादर्श, (३१) दिगम्बर जैन, (३२) बालकेसरी, (३३) जैन प्रचारक, (३४) परवार बन्धु (३५) जैन बोधक, (३६) खण्डेलवाल जैन हितेच्छु (३७) वीर (३८) भारतीय समाचार, (३९) जैन संदेश, (४०) जैन मित्र, (४१) जैन गजट। गुजराती : (४२) सुवास। संस्कृत : (४३) मैसूरुमहाराजसंस्कृतमहापाठशालापत्रिका, (४४) सूर्योदय। कन्नड : (४५) साहित्य परिषत्पत्रिका, (४६) प्रबुद्ध कर्णाटक, (४७) साहित्य समिति पत्रिके, (४८) जयकर्नाटक, (४९) अध्यात्म प्रकाश, (५०) शरण साहित्य, (५१) विवेकाभ्युदय, (५२) सुदर्शन। तेलगु : (५३) आन्ध्र-साहित्य-परिषत्पत्रिका।

इनके अतिरिक्त भवन में The Indian Historical Quarterly, विशाल भारत, सरस्वती, राष्ट्रवाणी, विश्वमित्र ये भी मूल्य देकर मंगाये गये हैं।

समालोचनार्थ प्राप्त ग्रंथ : इस वर्ष 'जैन-सिद्धान्त-भास्कर' में समालोचनार्थ अन्यान्य भाषा के निम्नलिखित ग्रन्थ उपलब्ध हुये हैं :

(१) षट्खण्डागम [पुस्तक ५], (२) पंचम-कर्मग्रन्थ, (३) कन्नड नाडिन कथेगलु, (४) चित्रसेनपद्मावतीचरित्र, (५) महावीरवाणी, (६) वर्धमानपुराण, (७) धर्म का आदि प्रवर्त्तक, (८) सत्यार्थ-निर्णय, (९) पावन-प्रवाह, (१०) बनारसी-नाममाला, (११) जैन झण्डागायन, (१२) पुराण और जैनधर्म (१३) जैन धर्म में दैव और पुरुषार्थ, (१४) तत्त्वार्थ-सूत्र जैनागम समन्वय आदि।

पत्रव्यवहार : भवन एवं भास्कर से सम्बन्ध रखने वाले सैकडों पत्रों के अतिरिक्त इतिहास, साहित्य आदि गम्भीर विषयों से सम्बन्ध रखने वाले अनेक पत्रों का भी समुचित उत्तर भवन से दिया गया है; जिनसे बाहर के पत्र प्रेषक मान्य विद्वानों को पर्याप्त सन्तोष हुआ है।

साहित्यिक तथा धार्मिक सभाएँ : इस वर्ष भवन में साहित्यमण्डल, साहित्य-परिषत् आदि साहित्यिक संस्थाओं के साधारण अधिवेशनों के अतिरिक्त महावीरजयन्ती आदि धार्मिक सभाएँ भी अधिक समारोह के साथ मनाई गई हैं। बल्कि हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन, प्रयाग के सभापति तथा विश्व-विद्यालय, प्रयाग के वायस चाँसलर श्रीमान् डा० अमरनाथ झा को साहित्य-परिषत्, आरा की ओर से भवन में ही मानपत्र दिया गया था।

प्रकाशन कार्य में सहायता : भारतवर्षीय दि० जैन संघ मथुरा; विश्वविद्यालय, मैसूरु; विश्वविद्यालय, मद्रास एवं कर्णाटक-साहित्य-परिषत्, बेंगलूरु आदि संस्थाओं के प्रकाशन कार्य में भी भवन ने यथेष्ट सहायता पहुँचाई है।

सम्मतियाँ : भवन एवं इसके प्रकाशन के सम्बन्ध में कतिपय मान्य विद्वानों की शुभ सम्मतियाँ निम्न प्रकार हैं :

"I paid a hurried visit last night to the Jaina Oriental Library. It is well stocked with valuable manuscripts relating to Jaina religion and literature.

The building is an excellent one and conviniently is situated. The library must be a source of mental enjoyment for those who visit it."

(Sir) Mirza. M. Ismail, Diwan, Jaipur.

"We were delighted to pay a visit to the centre of learnings research."

[Professor] S. P. Prasad. Science college, Patna.

[Professor] K. P. Sinha. G. B. B. College, Muzaffarpur.

"I was delighted to see the collection of rare and valuable books and manuscripts on almost all important subjects. A look at the collections will convince the visitor that important books by prominent authors find place here. The books and manscripts are not only well preserved but also well utilised. I am glad to learn that scholars living in distant places get loans of books especially manscripts from this library for their study My esteemed friend Pandit Sri Bhujbali Sastri has put his heart and Soul for the development of this library to what it is as present from what it was about 20 years ago when I first visited the place. I prav that this library may grow from more to more and be of help to many a scholar and student."

C. S. Mallinath, Ex-editor Jaina Gazette, Madras.

"आज श्रुतदेवता के इस परम पुनीत पूजास्थान को देखकर अन्तरात्मा सन्तोष से उद्वेल हो उठी। इसका संग्रह अपने ढंग का अनोखा है। फिर उसकी व्यवस्था तो श्री पं० भुजवलीजी शास्त्री की सुरुचि तथा साहित्य-प्रेम के कारण अतुलकोटि में जा पहुँची है। स्व० बाबू देवकुमारजी की जिनवाणी भक्ति के इस मूर्त्त-रूप का सम्पोषण, संरक्षण, संवृहण उनके सुयोग्य पुत्र बाबू निर्मलकुमारजी और भी उत्साह से करते रहें, यही भावना है। जैनसंस्कृति के इतिहास निर्माण में इस भवन का विशेष भाग रहा है। अनेकों अलभ्य ग्रन्थों का इसमें संग्रह है। साथ ही साथ कुछ और भी पुरातत्त्व विषयक

सामग्री के संग्रह का लघु प्रयत्न प्रारम्भ किया गया है। आशा है, कि जैन-संस्कृति-संरक्षण का यह केन्द्र उत्तरोत्तर विकास करता रहेगा।"

महेन्द्रकुमार जैन, न्यायाचार्य, स्याद्वाद महाविद्यालय, काशी।

"सौभाग्यवश मुझे 'सरस्वतीभवन' देखने का सुअवसर मिला। यह जैन समाज के समस्त भवनों से अपनी खास विशेषता रखता है। भवन की सुव्यवस्था देख हृदय पुलकित हो उठता है। श्रुतदेवता के मन्दिर का मूर्त्तमानरूप देखकर हृदय गद्गद् हो जाता है। भवन के अध्यक्ष श्रीयुत पं० के० भुजबलीजी शास्त्री भवन की व्यवस्था बड़ी भारी लगन एवं उत्साह के साथ सम्पन्न कर रहे हैं। स्व० बा० देवकुमारजी की जिनवाणी भक्ति का यह जीता जागता रूप देखकर बड़ी ही प्रसन्नता होती है। बाबू निर्मलकुमारजी का साहित्यप्रेम इसे और भी बढ़ाने का प्रयत्न करेगा, ऐसी आशा है। भवन में जो ऐतिहासिक सामग्री का संग्रह है और किया जा रहा है उससे जनता को यथेष्ट लाभ उठाना चाहिये।.....आशा है, यह भवन उत्तरोत्तर वृद्धि करता हुआ जैन साहित्य के संरक्षण का एक ही केन्द्र रहेगा।"

परमानन्द जैन, शास्त्री, वीर-सेवा-मन्दिर, सरसावा।

".....पुस्तकों का रमणीय संग्रह, चित्रों की सजावट, प्राचीन हस्तलिखित प्रतियों का रुचिर संग्रह—इन सब वस्तुओं को देखकर चित्त पुलकित हो उठा। आरा के इस पुस्तकालय में जैन दर्शन तथा साहित्य के अध्ययन के लिये जितना सुयोग है, उतना अन्यत्र मिलना नितान्त कठिन है। इस कार्य के लिये इसके संचालक देवकुमार जैन तथा व्यवस्थापक शास्त्रीजी हमारी विपुल प्रशंसा के पात्र हैं। मेरा पूरा विश्वास है कि भगवान् महावीर के अमृत उपदेशों के प्रचार से संसार का विशेष मंगल होगा। इस महान् उद्देश्य की पूर्त्ति में इस संस्था का नाम भी चिरस्थायी रहेगा।"

बलदेव उपाध्याय एम. ए., साहित्याचार्य,
प्रो० हिन्दू-विश्वविद्यालय, काशी।

The Jaina Antiquary in English and the Jaina Sidhanta Bhaskar in Hindi are issued once in six months by the Jain Sidhanta Bhavana, Arrah, Bihar. The journals contain valuable articles regarding Jainism in its Literary, Historical and Philosophical aspects, and extremely useful to scholars. We wish the Journals a long life of research in the unexplored regions of Jaina thought, literature and History." Journal of the Telugu Academy, Cocanada.

"The Jaina Sidhanta Bhaskara in Hindi and Sanskrit with which is in corporated the Jaina Antiquary in English is the only research Journal which the 'Jains should be proud to possess.'

Editor. Jain Gazette, Lucknow,

Bhaskara is a half yearly journal, devoted to the study of and research in topics pertaining to the Jain religion, history and philosophy.

Editor, The Fergusson College Magazine, Poona.

"Pray accept my cordial thanks for a copy of "The Jain Antiquray which I have found to be a source of information on Jainism. I have noticed the article on "Prabhāchandra", as particularly interesting

[Prof.] Sidheswar Verma.
Prince of Wales college, Jammu (Kashmir).

"आपके द्वारा प्रेषित 'जैन-सिद्धान्त-भास्कर' नाम की उच्च कोटि की पत्रिका कार्यालय में पहुँची। हमारी दृष्टि में सचमुच यह पत्रिका जैन सिद्धान्तों का भास्कर ही है।"

चिलुकुरि पापय्य शास्त्री,
आन्ध्र-साहित्य-परिषत्, काकिनाड।

"इस [जैन-सिद्धान्त-भास्कर] में जैनधर्म, कला, साहित्य, दर्शन, पुरातत्त्व आदि विषयों पर सुन्दर लेख रहते हैं। पुरातत्त्व के विद्यार्थियों के लिये पत्रिका उपादेय है।"

सं० धर्मदूत, सारनाथ।

"इस [जैन-सिद्धान्त-भास्कर] में बराबर ठोस और स्थायी सामग्री रहती है। जैन इतिहास की अच्छी-अच्छी और खोजपूर्ण बातों को प्रकाश में लाया जाता है। प्रस्तुत अंक में सभी लेख पढ़ने योग्य हैं।

सं० जैन-संदेश, आगरा।

"It [Prasasti Sangraha] is indeed a very valuable reference book, pull of information and presented in a neat form; and it deserves to be heartily welcomed by all serious students of Indian literature in general and of Jain literature in particular. I earnestly request you to continue this work further.

Dr. A. N Upadhye M. A.; D. Litt,
Rajaram College, Kolhapur.

"It [Prasasti Sangraha] is useful compilation, very carefully prepared. I hope you will continue the work and the other parts will be published ere long. For my part I feel that the work will be of immense use."

Prof. D. L. Narsinhachar.
Maharaja College, Mysore.

"·····यह 'प्रशस्ति-संग्रह' बहुत ही खोजपूर्ण और उपयोगी प्रकट हुआ है। जो विद्वानों के लिए एवं इतिहास-प्रेमियों के लिए बड़े काम की चीज हो गई है। मन्दिरों और पुस्तकालयों के लिये तो यह संग्रहणीय है ही।····· इस पुस्तक के लिये पं० भुजबलीजी शास्त्री ने जो परिश्रम किया है, प्रशंसनीय है। इसके लिये आप अत्यन्त धन्यवाद के पात्र हैं। जैन समाज चिरकाल तक आपका ऋणी रहेगा।

सं० 'जैनमित्र' सूरत।

"·····प्रस्तुत ग्रन्थ देवकुमार-जैन-ग्रन्थमाला का पञ्चम पुष्प है। जैन ग्रन्थों की प्रशस्तियों में इतिहास की अपूर्व सामग्री भरी पड़ी है। किन्तु उसके संग्रह की ओर अभी तक किसी ने क्रियात्मक ध्यान नहीं दिया था। पं० भुजबलीजी शास्त्री के सदुद्योग से भवन में संग्रहीत हस्तलिखित ग्रंथों में से ५४ संस्कृत, प्राकृत ग्रन्थों के मंगलाचरण, प्रशस्ति आदि का प्रथम संग्रह प्रकाश में आया है। प्रत्येक ग्रन्थ के प्रशस्ति-संग्रह के अन्त में शास्त्री-जी ने हिन्दी भाषा में उसका विवेचन भी किया है। और इस तरह साधारण पाठकों के लिये भी वह लाभदायक और रोचक बन गया है। इस एक पुस्तक को ही पास में रखने से पाठक ऐसे ५४ शास्त्रों के बारे में बहुत-सी बातें जान सकेंगे, जिनका प्रकाशित होना अभी कठिन है। अतः प्रत्येक शास्त्रप्रेमी को इस पुस्तक की एक प्रति अवश्य मंगानी चाहिये। बड़े-बड़े अजैन विद्वानों ने इसकी मुक्तकण्ठ से प्रशंसा की है। हम शास्त्रीजी तथा बाबू निर्मलकुमारजी को उनके इस अत्यावश्यक सफल प्रयास के लिये हार्दिक धन्यवाद देते हैं। आशा है, इसी प्रकार भवन में संग्रहीत कुल ग्रन्थों की प्रशस्तियों के संग्रह प्रकाश में आ जायँगे। और उनसे जैन साहित्य और इतिहास का महान् कल्याण होगा।"

पं० कैलाशचन्द्र जैन, शास्त्री

सं० जैन सन्देश'।

"·····'जैन-सिद्धान्त भास्कर' में बहुत समय से हस्तलिखित प्राचीन ग्रंथों की प्रशस्तियां छप रही थीं। उनका संग्रह करके यह ग्रन्थ अभी प्रकाशित हुआ है। इसमें न्यायमणिदीपिका, प्रमेयकण्ठिका, जिनयज्ञफलोदय आदि ५४ शास्त्रों की प्रशस्तियां छपी हैं। जिनमें आदि मंगलाचरण के श्लोक व अन्तिम प्रशस्ति दी गई है। शास्त्र का विषय भी वर्णित है। अतएव यह संग्रह अत्यन्त उपयोगी प्रकाशित हुआ है। ग्रन्थों के रचयिता ३९ विद्वानों की सूची भी दी गई है। तथा आचार्य श्रीमुनि, आर्यिका आदि के नामों की अनुक्रमणिका (कोश) लगभग ११०० शब्दों का दिया गया है। यह संग्रह इतिहास प्रेमियों के लिये बड़े काम का सिद्ध होगा। प्रत्येक जैन-मन्दिर के भण्डारों में व पुस्त-कालयों में मंगाकर रखना चाहिये। वस्तु संग्रहणीय है। शास्त्रीजी का खोजपूर्ण सफल परिश्रम प्रशंसनीय है।"

ब्र० पं० चन्दाबाई जैन,

सं० 'जैन महिलादर्श'।

भुजबलिचरितम्

श्रीमोहलक्ष्मीमुखपद्मसूर्यं नाभेयपुत्रं वरदोर्बलीशम् ।
नत्वादिकामं भरतानुजातं तस्य प्रशस्तां सुकथां प्रवक्ष्ये ॥१॥
आनन्त्याकाशमध्ये त्रिजगदनिलतः सन्ति (?) तन्मध्यलोके
सन्ति द्वीपाब्धिवृन्दाः सहवलयिता हारदाद्या (?) वृतोऽसौ ।
जम्बूद्वीपोऽस्ति तस्मिन् कनकगिरिवरो भाति तद्दक्षिणस्या-
माशायामस्ति भास्वद्भरतवर्षतो मध्यगोत्तारशैलः ॥२॥
तच्छैलामलपुष्पलिट्पद इव प्रोद्भासमानं सदा
गंगासिंधुनदीविभागविलसत्षट्खण्डभूमण्डलम् ।
आर्या (?) खण्ड इति त्रिषष्ठिसुशलाकापूरुषोत्पत्तिनै-
मित्तो भात्युपलावणाब्ध्युपनदीभिः पञ्चखण्डात्मकः ॥३॥
तत्खण्डपद्म.....उदग्रदेशाः
.....द्राविडनामदेशो भातीव सौभाग्यरथाधिवासः ॥४॥
तद्देशलक्ष्मीमुखमण्डलेव भाति प्रशस्ता मधुरा पुरी सा ।
तां रक्षतीहात्र (?) ललामतोऽसौ श्रीराजमल्लक्षितिपाग्रगण्यः ॥५॥
श्रीदेशीयगणाब्धिपूर्णमृगभृच्छ्री.....नन्दिव्रति-
श्रीपादाम्बुजयुग्ममत्तमधुपः सम्यक्त्ववरत्नाकरः ।
श्रीमज्जैनमताब्धिवर्धनसुधासूतिर्महीमण्डले
पौलोमीश्वरवैभवो विजयते श्रीराजमल्लो विभुः ॥६॥
आहारादिचतुर्विधोत्तममहादानानुरक्तः सदा
सर्वज्ञोदितदिव्यशास्त्रसुकलावाराशिपारंगतः ।
भास्वज्जैननिवासजैनवरबिम्बोद्धारधौरेयतो
रेजे सद्गुणभूषणो बुधनुतः श्रीराजमल्लो नृपः ॥७॥
अद्रौ रत्नगणायते सुरसरिन्मध्येऽरुणाब्जायते
दिङ्नागव्रजमस्तके सुचिरसिन्दूरायते सम्प्रति ।
दिक्कान्ताकुचमण्डले घसृणसत्पुञ्जायते शौर्यव-
त्तत्तेजो वरराजमल्लनृपतेरन्यानशोकायते ॥८॥

स्नात्वा देवापगायां सुरुचिरविलसच्चन्द्रिकाशुभ्रवस्त्रम्
धृत्वा मुक्ताभरणममलिनं भूषयित्वा त्रिशुद्ध्या ।
स्वर्धेनुक्षीरधारादरकुजकुसुमैः पुष्पवृष्टिं करोति
तत्कीर्त्तिप्रेयसी..... .....श्रीराजमल्लक्षितीन्द्रः ॥९॥
त्वन्मूर्त्तिः सुरपादपस्तव भुजस्तज्जातस्पर्शात्मकः
तव करांगुल्यः स्वर्धेनुस्तनाः (?).....
त्वत्पदावलिनखांकुरसुरमस्तविद्वज्जिसिद्धोरसः (?)
त्वद्वाक्यं तु सुदेवदानसमयो हे राजमल्लप्रभो ॥१०॥
तस्यामात्यशिखामणिस्सकलवित् सम्यक्त्वचूडामणिः
भव्याम्भोजवियन्मणिस्सुजनवन्दिव्रातचिन्तामणिः ।
ब्रह्मक्षत्रियवंशशुक्तिसुमणिः कीर्त्यौघमुक्तामणिः
पादन्यासमहीशमस्तकमणिश्चामुण्डभूपाग्रणीः ॥११॥
प्रभातकाले नृपराजमल्लः स्नात्वा च मौनादिकसत्क्रियाश्च ।
कृत्वा जिनेन्द्रं परया च भक्त्या स्तुत्वा महालंकृतिमान् बभूव ॥१२॥
मणिप्रभामण्डितसिंहपीठेऽप्यास्थानमध्यप्रविभासमाने ।
अतिष्ठदुद्यद्दिवसाधिपोसाविनम्रपूर्वाचलशेखरस्थः ॥१३॥
अमात्यचूडामणिना नृपोऽसौ चामुण्डनाम्ना सह सत्सभायाम् ।
वाचस्पतिव्यक्तसुरेन्द्रशोभां चकार सर्वावसराख्यकायाम् ॥१४॥
कश्चिद्वणिग्वंशललामभूतः प्रविश्य राज्ञश्च सभान्तरालम् ।
महीतलालिंगितविग्रहस्सन् प्रणम्य चोवाच कथां सुवार्ताम् ॥१५॥
स्यादुत्तरस्यां दिशि पौदनाख्या पुरी विभाति त्रिदशाधिपस्य ।
पुरप्रभास्वत्प्रतिबिम्बितादर्शमेव जैनक्षितिमण्डलेऽस्मिन् ॥१६॥
तत्पत्तने श्रीभरतेश्वरेणादिब्रह्मपुत्रेण कुलंकरेण ।
राजर्षिणा चादिमचक्रिणा सुनिर्मापितं बाहुबलीन्द्रबिम्बम् ॥१७॥
पञ्चसप्ततिविहीनषट्शतोद्धचापसमविग्रहोच्छ्रितः ।
चारुबाहुबलिविग्रहश्च कर्कैतनोपलविराजितो भुवि ॥१८॥
पश्यतीव हसतीव सुवाक्यं जल्पतीव सदकृत्रिमबिम्बम् ।
तिष्ठतीव वरपौदनपुर्यां भाति बाहुबलिसुप्रतिमासौ ॥१९॥

श्रीगुम्मटाभिनवनामविराजितोऽसौ
श्रीबाहुबल्युरुतरप्रविभासमानः ।
श्रीचारुसत्प्रतिकृतिर्नमक (?) द्वयस्य
मूर्त्तीयमार्कहरिताद्रिरिवोरु (?) भाति ॥२०॥
अकृत्रिमार्हत्प्रतिमापि कायोत्सर्गेण भातीव सुकामधेनुः ।
चिन्तामणिः कल्पकुजः पुमानाकृतिं विधत्ते जिनबिम्बमेतत् ॥२१॥
श्रीपादचारुनखजानुसदूरुयुग्म-
नेत्रं विबिम्बावलिनापि सुहस्तवहम् (?) ।
कण्ठास्यकर्णलसदोष्ठसुनासिका हि
भ्रूभालकुन्तलमहो जिनपुंगवस्य ॥२२॥
पदादिदोरन्तिमवेष्टिता सद्वल्ली महाबाहुबलेर्जिनस्य ।
आकर्षणार्थं वरमोक्षलक्ष्म्या त्यक्ताब्जवल्लीव सदा विभाति ॥२३॥
इत्थं जिनेन्द्रप्रतिमाप्रभावं श्रुत्वातिहृष्टो नृपराजमल्लः ।
चामुण्डराजोऽपि तथातिहृष्टः सम्यक्त्ववरत्नाकरपूर्णचन्द्रः ॥२४॥
तदा नमस्कृत्य तमेव भूपं सभान्तरालात्स्वगृहं प्रविश्य ।
तद्वृत्तकं मातुरवोचदेतच्छ्रुत्वा तदानन्दपरा बभूव ॥२५॥
सुतेन सार्धं वरकालिकाम्बा गत्वा जिनाधीशगृहं त्रिशुद्ध्या ।
स्तुत्वा जिनेन्द्रं स्वगुरोर्गुरुञ्च श्रीसिंहनन्द्यार्यमुनिं प्रणम्य ॥२६॥
श्रीभूभृद्राजमल्लव्रतगुरुरमलः सत्तपश्शीलजालः
श्रीमद्देशीगणाम्भोरुहविकसनसामर्थ्यमार्तण्डबिम्बः ।
प्रोद्यद्वादीभसिंहः सकलगुणनिधिः सर्वशास्त्रस्य कर्ता
रेजे सिद्धान्तवेदी सुरनुतचरणः सिंहनन्द्यार्यवर्यः ॥२७॥
पश्चात्साजितसेनपण्डितमुनिं देशीगणाग्रेसरम्
स्वस्यापत्यसुबुद्धिवार्धिशशिनं श्रीनन्दिसंघाधिपम् ।
श्रीमद्भासुरसिंहनन्दिमुनिसांघ्र्यं भोजरोलंबकम् ।
चानम्याप्रवदत् (?) सुपौदनपुरिश्रीदोर्बलेर्वृत्तकम् ॥२८॥
तच्छ्रीबाहुबलीशचारुतरसद्बिम्बस्य सन्दर्शनम्
नो कृत्वा न पिबाम्यहं पय इति क्षीरव्रतं धारये ।

तद्योगीन्द्रपदाम्बुजातनिकटे चामुण्डभूपाग्रणीः
तत्क्षीरव्रतमप्यसौ गुणमणिः सोऽधारयद्भक्तितः ॥२९॥
पुनर्नमस्कृत्य मुनीन्द्रपादं श्रीराजमल्लं प्रतिगम्य भूपम् ।
मनोगतार्थं स बभाण तस्य प्रयाणयत्नञ्च चकार रागात् ॥३०॥
श्रीसैद्धान्तिकचक्रिणां मुनिवरश्रीनेमिचन्द्रेण त-
च्छिष्याग्रेसरयोगिभिर्बुधजनैः सार्धं जनन्या सह ।
हस्तित्रातरथाश्वपत्तिनिकरैः साकं प्रतस्थे शुचि-
लग्ने वाद्यरवावृते दिशि पुरा चाखण्डपृथ्वीश्वरः ॥३१॥
मार्गे मार्गे यत्र यत्र प्रवासं चक्रे राजा तत्र तत्रार्हदीयम् ।
कृत्वा कृत्वा श्रीगृहं पूजयित्वा सेनाव्यूहं धन्यवन्तं चकार ॥३२॥
उत्तराभिगमनं विरचय्यागत्य कंचिदपि योजनमात्रम् ।
विंध्यशैलमपि सोऽपि ददर्श क्ष्मारमासुकरकन्दुकसाम्यम् ॥३३॥
तच्छैलसानुनि तटे ललिताख्यचारुपद्माकरस्तदचलप्रभुदर्पणाभः ।
आभात्यसौ तदधरे [खलु] पार्श्वदेशे सेनाप्रजश्च निवसेत्(?)क्षितिपाग्रगण्यः॥३४॥
हस्वाद्रिस्तदवनीभृत्कुबेरकाष्ठायां तद्धरशिखरेऽस्ति जैनवासः ।
इत्येवं नृपतिशिखामणेरवोचत्कश्चित्किङ्कर उदधेर्गभीरकस्य ॥३५॥
श्रुत्वा तदा जिनगृहं प्रतिगम्य भक्त्या स्तुत्वा जिनेन्द्रवरबिम्बमघातवज्रम् ।
श्रीनेमिचन्द्रमुनिना सह भूमिपालो निद्रां चकार निशि तद्गृहमण्डपेऽसौ ॥३६॥
कूष्माण्डी तन्मुनीशस्य च तदवनीपालकस्याम्बिकायाः
स्वप्ने चातुर्थयामेऽभणदतिकठिनो मार्ग इत्यग्रे (?) गन्तुम् ।
शैलेऽस्मिन्त्रावणेशेन विकृतभुजबल्युद्घबिम्बं प्रसन्नैः
त्वद्भक्तिप्रेरितैः काञ्चनमयविशिखैर्जायते ह्यद्य भूप ॥३७॥
दृष्ट्वा शुभस्वप्नमपि क्षितीशः सुप्रातरुत्थाय जिनं प्रणम्य ।
गुरुञ्च नत्वा जननीं प्रवंद्य स्वप्नं ददर्शेति बभाण दिव्यम् ॥३८॥
तद्वत्सुस्वप्नमावाभ्यां दृष्टं तत्फलकारणम् ।
यत्नं कुरु नृपालेति बभाण मुनिपुंगवः ॥३९॥
स्नात्वालंकारयित्वा मुनिपतिनिकटे चोपवासञ्च कृत्वा
दाक्षिण्याशाननः सन् समपदयुगलः कार्मुकात् स्वर्णबाणान् ।

THE JAINA ANTIQUARY

VOL. IX. JUNE, 1943 No. I

Edited by

Prof. Hiralal Jain, M. A., LL.B.
Prof. A. N. Upadhye, M. A., D. Litt.
Babu Kamata Prasad Jain, M. R. A. S.
Pt. K. Bhujabali Shastri, Vidyabhushana.

Published at

THE CENTRAL JAINA ORIENTAL LIBRARY,
ARRAH, BIHAR, INDIA.

Annual Subscription

Inland Rs. 3. Foreign 4*s*. 8*d*. Single Copy Rs. 1-8

CONTENTS.

		Pages.
1.	The Jaina Theory of Anekanta-Vāda—By Prof, K. C. Bhattacharya	1
2.	The Chronology of the Commmentary of Sadānandagaṇi or the Siddhanta-Candrika of Rāmāśrama or Rāmacandrāśrama—A.D. 1743—By Prof. P.K. Gode M.A. ...	15
5.	Jaina and Buddhistic Studies—By Dr. A. N. Upadhye M. A., D. Lit.	20
4.	Pramāṇa-Sundara of Padmasundara— By Mr. K. Madhava Krishna Sarma, M. O. L.	30
5.	Advent of Jainism—By Prof. D. S. Triveda	32
6.	Reviews	40
7.	Restraint an important Factor in Ancient Indian Penalogy —By Prof. Nalina Vilocana Śarmā.	41

JAINA LITERATURE IN TAMIL

By

Prof. A. Chakravarti M. A., I, E. S. Published by The Jaina Siddhānta Bhavan, Arrah (Bihar) Rs. 2.

The remarkable contributions of Jaina authors to the different languages of India are discernible in the history of Indian Literature through the ages and Tamil is no exception The Sangham Literature abounds with Jaina authorship. In a cursory survey of Tamil Literature, (in which the author gives a summary of each of the main Tamil Kavyas), Prof. Chakravarti brings out the prevalence of Jainism in ancient Tamil Nadu, and traces the manners and customs of the Tamils from these books. The author traces the vegetarianism of the Tamil Brahmin and the Tamil Vellalas to the over-riding influence of the doctrine of Ahiṁsā of Jainism as preached 2,000 years ago in the Tamil classics. Since practically the whole of the ancient Sangham Literature is covered in this survey of Jaina authors, it will serve as a useful introduction for non-Tamilians to the history of ancient Tamil literature. There is an useful index of the authors and the works referred to in the book. The author's arguments for fixing some of the authors as Tiruvalluvar are interesting. The historian, the student of comparative religion and the student of Tamil literature will all alike benefit by a study of this book.

Indian Express

Om

The JAINA ANTIQUARY

"श्रीमत्परमगम्भीरस्याद्वादामोघलाञ्छनम् ।
जीयात् त्रैलोक्यनाथस्य शासनं जिनशासनम् ॥"
[अकलंकदेव]

Vol. IX
No. I

ARRAH (INDIA)

June,
1943.

The Jaina Theory of Anekanta-Vada.

By
K. C. Bhattacharya.

The *Jaina* theory of *anekānta-vāda* or the manifoldness of truth is a form of realism which not only asserts a plurality of determinate truths but also takes each truth to be an indetermination of alternative truths. It is interesting as suggesting a criticism of present-day realism and indicating a direction in which its logic might be developed. It is proposed in the present paper to discuss the conception of a plurality of determinate truths to which ordinary realism appears to be committed and to show the necessity of an indeterministic extension such as is presented by the *Jaina* theory.

The truth that we actually know is a plurality of truths and philosophy rightly or wrongly, sets itself the problem of finding the *one* truth which either denies or in some sense comprises the plurality. Whatever differences there have been as to the actual conception of the truth, the rejection of the faith that there *is* one truth has generally been taken to argue a scepticism about the many truths that we claim to know. Sometimes however an ultimate plurality of truths has itself been taken as the one truth and the apparent contradiction has been sought to be avoided by taking it to mean only that there is *one cognition* of the plurality. Elsewhere the cognition of a

fact is a further fact but here the addition of cognition as a fact to plurality as a fact yields us nothing but the plurality. The realistic or objectivistic equivalent of the unity of a cognitive act is the bare togetherness of the facts known; and the togetherness of cognition as a fact with the fact cognised is the exemplar of this relation.

The difficulty is about the objectivity of this bare togetherness. When two objects other than knowing are known together, they are ordinarily taken to be in some kind of whole, specific relation or unity. This cannot be said of object and its cognition as together. Objects also may however be barely together; the relation of a whole to its elements, of a relation to its terms or of a unity to its factors is nothing more specific than togetherness. This then is the fundamental category of realism and whole, relation or unity would be understood as particular cases of it. We propose to show on the lines of the *Jaina* theory that this category is itself manifold, being only a name for fundamentally different aspects of truth which cannot be subsumed under a universal and do not make a unity in any sense. Togetherness, as ordinarily understood by the realist, means distinction of determinate positive truths. The *Jaina* category might be formulated as distinction from distinction which as will be shown has a definite range of alternative values, only one of which answers to the distinction or togetherness of the modern realist.

Prima facie there is a difference between the relation of a composite fact with its components and the relation of the components themselves. We may overlook for the present the different forms of the composite—whole, relation or unity—which imply varying relations to the components and provisionally admit composite truth as a single entity. Now there is no difference between the togetherness of any one component with the rest and that of any other with the rest: the components in their various combinations are together in exactly the same sense. Taking however the composite on the one hand with the components on the other, we find that the two sides can be only thought alternately: while one side is thought by itself, the other can be thought only in reference to it. If the components are taken to be given, the composite can be understoad as only *their*

plurality, and if the composite is given as one, the components are known as only *its* analysis. Each side can be given by itself as objective and so it is not a case of mere correlative *thoughts.* Neither side need be thought in reference to the other; but while one is thought as distinct by itself, the other has to be thought as only together with or distinct from it. We have in fact a correlation here between 'distinct in itself' and 'distinct from the other,' between given position and what is sometimes called the negation of negation.

Is the necessity of thinking something *as other than its other* merely subjective? It would appear to be objective in the same sense and on the same grounds as the togetherness or bare distinction of positives admitted by the realist. Realism objectifies the subjective because it is *known* and is not simply transcendental. The question may be asked, is the distinction of subject and object, of knowing and the known, both taken to be facts—'enjoyed' and 'contemplated' respectively, to use Professor Alexander's phrase—a fact of the former or of the latter category, subjective or objective? Now just as knowing is known, the absolute difference of the two forms of knowing—enjoying and contemplating—is also known; and if the unity of the knowing act be taken to correspond to objective togetherness, this absolute difference must also be taken to have its objective counterpart. Togetherness or bare distinction is the form of objectivity in general. The counterpart then of the difference of 'subjective' knowing or 'enjoying' from objective knowing or 'contemplating' would be distinction from objectivity i.e. from distinction. Thus both distinction and distinction from distinction should be taken by the realist as objection. These two howeverare not ordinarily distinguished: both are called by the same name—togetherness.

If however as shown these two forms of togetherness are fundamentally different, what is their further relation? Now distinction from distinction has sometimes been taken as a determinate relation, as identity or some unique relation like 'characterising' or adjectivity, which also for our present purpose we may call a peculiar form of identity. The problem is accordingly about the relation of identity and distinction in the objective. We may consider two forms of identity as presented by the Hegelian and the *Nyaya* sytems respec-

tively. The *Nyaya* is avowedly a realistic system and the Hegelian theory may also in some sense be taken to be realistic. Realism proper, as we canceive it, has no place for the relation of identity in the objective except in a factitious sense, although it should—what it ordinarily does not—admit distinction from distinction as a specific category. The above two theories however admit both identity and distinction though they do not stress them in the same way. The Hegelian subordinates distinction to identity while the *Nyaya* assigns priority to distinction. The *Jaina* theory admits identity only in the sense of indeterminate non-distinction; and it takes the two relations to be coordinate without subordinating any one to the other.

In what sense does the Hegelian subordinate distinction to identity? No doubt he emphasises distinction to distinguish his concrete identity from abstract or formal identity but he does not admit—what a realist would admit—that an object can be distinct in itself and need not be in a comprising identity. The dialectic movement ends in an absolute identity, not in an absolute distinction. The thesis and antithesis at any stage are said to be reduced to 'ideality' in the synthesis, to be not only contained but transformed by it. The identity progresses in concreteness in the sense that it dissolves in itself a deeper and deeper difference; but the absolute in the last resort is taken as the identity of the deepest differences, not as incommensurable bifurcations of an identity.

What however is this relation of *subordination* of distinction to identity? Distinction is in some sense negated by the identity: it is said to be dissolved or reduced to 'ideality' in the identity. Not that it is negated in the sense an illusory percept is said to be negated by a true percept: difference or the rich variety of the universe is not an illusion. If then difference still retains some kind of being, what is the name of the relation between this being and the being of the identity? Should it be call identity again, as apparently the Hegelian would call it? Identity then would occupy two positions: the synthesis or the composite as we may call it is the identity *of* the different factors and is also identical *with* them, being thus at once a relation and a term.

The Hegelian ordinarily understands identity as mutual implication or correlation. If A and B imply one another, each being wholly intelligible by the other, they are said to be identical. In this sense a synthesis would be taken as the identity of its factors. Is the identity of the synthesis *with* the retained being of the distinction within it also to be understood in the sense of mutual implication? The two implications that make up mutual implication must be envisaged as substantially different truths and must not be a purposeless repetition of each other in different verbal order only. If a synthesis and its factors be mutually implicatory, the synthesis implying the the factors must mean some thing concretely different from the factors implying the synthesis. It cannot mean simply that the factors are *presupposed* by the unity; for that means substantially the same thing as that the factors presuppose the unity. The two sides are but the verbal explications of the same fact viz the thought of identity-in-difference or synthesis. Synthesis implying the factors should mean then that the unity must break out *actually* into difference. In the last resort it will amount to saying that the Absolute should be *experienced*, not merely *thought*, as necessarily reproducing itself in actuality. But is the actual universe *experienced* as necessary? It is only thought to be necessary; and accordingly the implication by the Absolute of actual differences—the necessity of its self-reproduction—is not distinct as a substantial truth from the mere *presupposition* of the Absolute by the universe.

The identity then of a synthesis with the retained being of the distinction within it is not an identity in the sense of mutual implication. If the relation be still called identity, it must be taken as simply intuited, as all identity is taken to be in the *Nyaya*. Apparently then the Hegelian, while subordinating distinction to identity, has to admit two utterly different kinds of identity, corresponding to the difference of thought and intuition, which cannot be reduced to further identity. This however is a contradiction.

A similar contradiction may be brought out in the *Nyaya* view. Here however we start with the priority of distinction to identity and we have to end, as will appear presently, by admitting an identity

that is not distinct from any thing at all. Confining ourselves to positives, we have synthetic identity of positives in this system in the form of *Samavāya* or the relation of inherence Without going into the subtle technicalities of the *Nyaya* in this connection, we may indicate that *Samavāya* is understood by it as the relation of attribute to its substratum and of a whole to it parts. It is a relation of distinct objects and is regarded as what is presupposed by every other relation of existents. It is not a mere formal relation of identity; the distinction of the terms of this relation is taken to be real and to be in no sense superseded by it. Hence it is not *called* identity in this theory but it is pointed out that one term of the relation—attribute or whole—exists inseparably from the other—substratum or part, the inseparability being *eternal* although no term may be infinite or permanent. This eternal inseparability may accordingly be regarded as a form of concrete identity.

Now this identity is taken as knowable by perception, unlike the implicational identity of Hegel which is supposed to be known only by necessary thought. As a percept it is a distinct among distincts, not as in the Hegelian theory comprehensive of the distincts. Ultimately there are objects like the simple atoms distinct in themselves and not inhering in anything beyond them. Other objects like attributes and wholes exist as distinct but inseparable from their substrata. Finally the relation *Samavāya* or this concrete identity is also a distinct object Thus priority is assigned, as has been pointed out, in this system to distinction.

The relation of *Samavāya* implies three grades of distincts—objects that must be in some substratum, the substrata, and the relation itself. The question may be asked if relation is a distinct being in the sense in which the objects of the other two grades are distinct. These objects are distinct as the terms of the relation : objects which do not inhere in anything are still determinate as having attributes and wholes inhering in them. Not that the knowledge of a substance presupposes the knowledge of what inheres in it : it is known as distinct prior to the analysis. But in point of being, every object except relation must either have something inhering in it or

itself inhere in something else or be in both these situations. Relation is not itself related to anything beyond, for then there would be a *regressus ad infinitum*. It is a distinct existent only by self-identity or *sva-samavāya*.

Self-identity however is not a relation of distincts at all. Granting — what is not admitted by all – that *Samavāya* is known by perception, this self-identity or *Sva-samavāya* is not a perceptible fact but is only an artificial thought-content. Self-related means unrelated in the objective. *Samavāya* is certainly *known* along with its terms but as a fact, it is only unrelated and cannot be even said to be definitely differrent from its terms. Can it then be determinate in itself ? It may indeed be conceded that the determinateness of a related term does not in point of being depend on its relations: the relation of a term *presupposes* an intrinsic determination in the term But that need not mean that the term is itself unrelated and has relation only added to it. In point of being the relation of *Samavāya* is eternal and so the related term is never unrelated, though as a term it is distinguishable from the relation. Relation then as an unrelated term is not even determinate and it is a contradiction to speak of it as self-related or unrelated and yet as determinate.

In the two conceptions of identity-in-difference above considered, the subordination of either relation to the other appears to lead to a contradiction. Shall we then take the relations to be merely coordinate ? We may take one type of such a view as presented in a work on logic by W. E. Johnson (Vol. I, chapter xii). In the last two views, a term A can be both identical with and other than B. The present view denies it and keeps to the commonsense principle that distincts cannot be also non-distinct. Yet identity as a relation is admitted : a term X, viewed in connexion with the distincts A and B, would be said to be identical as against the distinction of A and B. Identity of X here practically means its self-identity : it is not merely the thing X but a relation in reference to the distinction. Identity of X thus implies a distinction outside X viz, between A and B, not any distinction or plurality within itself.

The so-called mutual implication of the identity and distinction of two terms M and N means according to this view their identity *in one*

respect a and their distinction in another *b*: the two relations are presented together, each being known independently. It amounts to saying that M and N are in the two relations, the *same* two terms only in a factitious sense. They are two pairs of terms— *Ma Na*, and *Mb Nb* – presented together; and the identity of *Ma, Na* means that they are only different symbols of P.

But what does symbol of P mean, it may be asked. Can we simply say that *Ma, Na* are P as in connexion with i.e. as distinct from and together with *Mb, Nb* respectively? Apparently P *has* to be thought in two positions, The difference of symbols is not accidentally together with the identity P: it cannot be got rid of and cannot in the last resort be taken to be *outside* the identity, like the difference of *Mb, Nb*. In other words, a new relation—other than the mere coordinateness of distincts—has to be admitted between P and its ultimate symbols or thought-positions. So far as the identity of P can be distinguished from this relation, it is only P-*ness* and not P; and the relation itself is but the particularity of P. The identity of a determinate thing then disappears and gives place to a dualism of the abstractions – thinghood and particularity.

Ordinary realism starts with the determinate thing and would resist this analysis as artificial. But the alternative would appear to be to take the determinate thing as simply given, as implying no identity and to reject self-identity as only a meaningless phrase. What precisely is meant by 'simply given'? It can only mean 'independent of all particularising or symbolising thought.' It is to assume that the distinct exists apart from distinguishing. If this is justified simply by the circumstance that the distinction between the subjective and the objective is itself a known object, we come back to the old difficulty about distinction within the objective and distinction from the objective. Distinction from the objective, taken as itself objective, implies that knowing is known as distinct from the known i e. *as unknown.* If this is not a contradiction, knowing can only be understood as the *indefinite* that is known (i.e. is definite or objective) *as* the indefinite. The realistic equivalent of the relation of object and subject then is the relation of the definite and indefinite.

The objective indefinite has been admitted by some logicians with a realistic tendency e.g. by L. T. Hobhouse in his *Theory of Knowledge.* The content of simple apprehension which to him is the standard fact is at once definite and indefinite. What is apprehended is a definite with an indefinite background The indefinite as apprehended is so far definite but it is definite *as* indefinite, not as superseding the indefinite. Yet to Hobhouse there is knowledge only so far as the content is defined by abstraction. The knowledge of the indefinite as such is not regarded as necessitating any modification of the forms of definite knowledge The difference of the definite and the indefinite is not understood as other than the difference between two definites. There is the other obscure relation approximating to adjectivity or identity indicated by the phrase 'definite indefinite.' But this relation, if not denied, is not considered by him at all. The *Jaina* recognises both these relations explicitly and obtains from their contrast certain other forms of truth, simpler and more complex.

The obscure relation in the content 'definite indefinite' requires elucidation. If the indefinite is definite *as such,* is this definiteness an objective character ? To the realist, thought only discovers but does not constitute the object. Bare position corresponding to the simple positing act of thinking must then be objective. The indefinite is thought as *indefinite* and by the same logic the indefiniteness is also objective. The 'definite indefinite' is thus a fact but the two elements of it are incompatible in thought. The factual equivalent of this incompatibility would be disconnexion or *no-relation :* the two elements cannot be said to be related objectively even in the way of distinction. Yet as the elements have to be thought together, their togetherness is to be admitted as objective in the same abstract sense. Here then we have *togetherness of unrelated or undifferenced elements.* We can not deny a plurality nor can we affirm a definite distinction : the relation is a magical alternation. This would be the *Jaina* equivalent of the relation of identity. We may call it non-difference, distinction from distinction or indeterminate distinction.

If the given indefinite is definite *as* indefinite, the given definite is definite *as* definite. The given definite thus turns out to be a

manifold, in contrast with the given indefinite. If the adjective 'definite' in 'definite indefinite' be objective. it is also objective in 'definite definite' and distinguishable from the substantive 'definite'. We use the terms adjective and substantive only in a provisional way. The adjectival definite is objective thought-position and the substantive definite as contrasted with it is objective given-ness, or existence in general. As they are both distinct, their relation is definite distinction or differenced togetherness. Thus we have two modes of togetherness—differenced and undifferenced. The *Jaina* calls them *kramarpaṇa and saharpaṇa* respectively—consecutive presentation and co-presentation, as they might be translated. To him the indeterminism or manifoldness of truth (*anekanta*) presents itself primarily in these two forms of difference and non-difference.

The two definites in the phrase 'definite definite' mean thought-position and given-ness. They answer precisely to the elements of the determinate existent—viz. particularity and thinghood—which we obtained from the coordinateness of identity and distinction. In order to avoid the apparently artificial analysis, the realist takes the determinate existent as merely given. It is indeed given but so is the indefinite also given and the contrast of the two brings out the circumstance that the determinate existent is manifold—the very analysis that was sought to be avoided. The determinate existent then implies the distinct elements and is at the same time distinct from them.

Such is the logical predicament that is presented everywhere in the *Jaina* theory. It may be generalised as a principle : the distinction from distinction is other than mere distinction and yet asserts the distinction. It is just the realistic equivalent of the simple statement that the subject is distinct from the object and *knows* this distinction, or as it may be put more explicitly, that the knowing of knowing is the knowing of knowing *as referring to the object.* As we have already suggested, the different basal categories of objectivity with which the different forms of realism are bound up answer to the different aspects of the act of knowing. If knowing is a unity, the known is a plurality, the objective category being distinction or togetherness.

If knowing is itself a duality of 'contemplating' and 'enjoying', the known or the contemplated is a duality of distinction and distinction from distinction. If finally knowledge is *of* the object, *refers to* the known, the known must present an equivalent of this *of-relation* or *reference*.

What is this *of-relation*? It is the relation of knowing and its content, the knowing or assertive function which is sometimes identified with the function of meaning. It is a relation, not of two contents, but of content and no-content, of being and no-being—something that is neither the one nor the other and is intelligible only by the concept of *freedom that can neither be said to be nor not to be*. This freedom, stripped of its subjective associations, is but the category of indetermination. Distinction and identity infact—or as we call them differenced togetherness and undifferenced togetherness (of particularity and thinghood)—are themselves related in the way of indetermination or alternation: particularity and thinghood are in *each* relation without being in the other relation *at the same time*. Identity is distinct from distinction and yet implies it i.e. is in alternation with it. There are thus three basal categories—viz. distinction, distinction from distinction as other than distinction, and the indetermination of the two. Ordinary realism is based on the first category, there are forms of realism that admit some kind of definite identity as distinct from distinction, and finally *Jaina* realism admits both in the form of indetermination, the identity being iuterpreted as indefinite.

The *Jaina* develops this category of indetermination into seven alternative modes of truth. The indetermination is ultimately of the definite and indefinite. Now this yields two relations—definite distinction between them and indefinite distinction. But indefinite distinction between them is to our knowledge nothing other than the indefinite as a term of it: we do not know more of the indefinite than that it is indefinite. The most complex mode of truth then that we know is the definite distinction between the definite and the indefinite or as we put it more explicitly, between the definite-definite and the definite-indefinite. Every other aspect of truth, as we shall see presently, is implied by it as distinct from and alternative with it.

Now the definiteness of the given indefinite, as has been shown already, though objective, sits lightly on the indefinite and is a detachable adjective. The conception of detachable definiteness being thus obtained, the given definite turns out to be a manifold, to be a togetherness or distinction of two definites—the detachable definite on the one hand or particular position which has no reference to existence or non-existence and givenness or existence in general on the other which as contrasted with the particular i.e. as characterless may be called its negation. No other negation is admitted by the *Jaina* to be objective : what is called absolute negation—one form of which is the contradictory—i.e. the negation of what it is not possible to affirm at all is to be rejected as not objective, as no truth at all. The definite-definite or the determinate existent may then be said both to be and not to be : particularity or pure position is its being and existence in general is its negation. There is no contradiction if we bear in mind that the being of pure position is not given existence but only what must be thought, what is objective in this sense. The same logic is sometimes expressed by saying that a determinate existent A *is* in one respect and *is not* in another respect. This does not simply mean that A is A and is not B : it means that existent A, as existence universal, is distinct from its particularity.

The determinate existent is, in the sense explained, being and negation as distinguishably together, together by what the *Jaina* calls *kramarpaṇa*. The given indefinite—the 'unspeakable' or *avaktavya* as it has been called—as distinct from the definite existent, presents something other than this 'consecutive togetherness' : it implies *saharpaṇa* or co-presentation which amounts to non-distinction or indeterminate distinction of being and negation in the above sense. It is objective as given : it cannot be said to be *not* a particular position nor to be *non*-existent. At the same time it is not the definite distinction of position and existence : it represents a category by itself. The commonsense principle implied in its recognition is that what is given cannot be rejected simply because it is not expressible by a single positive concept. A truth has to be admitted if it cannot be got rid of, even if it is not understood.

So far then we have obtained four modes of truth—being,

negation, their distinction and their non-distinction—all implied by the distinction between the definite given and the indefinite given. Now this distinction is itself a mode of truth ; and as the definite given is taken to be being and negation or particularity and existence together, tbe indefinite may be considered as together with or distinct from each of these elements taken singly. It may be taken to *be* a particular i.e. to be together with position, and it may be taken to be many indistinguishable negations, to be the universal—existence—as itself a confusion of the negations of many particulars as not-A. not-B, not-C.....indefinitely together. Thus we have altogether seven modes of truth—*bhangas* as they have been called—viz. particular position or being, its negation or the universal—existence position and negation as distinguishably together or the determinate existent, these as indistinguishably together or the indefinite, this indefinite as itself a being or particular position, as many negations together, and finally as distinct from the determinate existent. If there be an eighth mode, it would be non-distinction of the definite and indefinite, which however is but the indefinite, nothing more specific than the fourth mode.

The value of these modes of truth for logic cannot be fully discussed within the limits of this paper. We may conclude by pointing out that these modes of truth are not merely *many* truths but *alternative* truths. The last mode may be regarded as implying the other modes but is not therefore in any sense a comprising unity. What is implied by a mode is a different mode. The implying relation in objective terms is but indetermination. The implying mode and the implied mode are at once distinct and indefinitely non-distinct. Truth as an indetermination or alternation of truths is but manifold possibility. Each mode of truth as alternative with the others is a *possible* though it has to be taken as objective.

There is the conception of indeterministic will to which there are many possibles, any of which can be really chosen by it. Here we have already the notion of manifold possibility as objective to the will. The logic of this notion has not been sufficiently investigated, though the relations of objective possibles cannot be adequately

expressed by the categories of ordinary logic. The *Jaina* theory elaborates a logic of indermination—not in reference to the will—but in referenceto knowing, though it is a pragmatist theory in some sense. As a realist, the *Jaina* holds that truth is not constituted by willing though he admits that the knowledge of truth has a neccssary reference to willing, His theory of indeterministic truth is not a form of scepticism. It represents, not doubt, but *toleration* of many modes of truth. The faith in one truth or even in a plurality of truths, each simply given as determinate, would be rejected by it as a species of intolerance. What is presented and cannot be got rid of has to be accepted as truth even though it is not definitely thinkable or is thinkable in *alternative* definite modes.

The Chronology of the Commentary of Sadānandagaṇi on the Siddhānta-Candrikā of Rāmāśrama or Rāmacandrāśrama—A. D. 1743.

By

P. K. Gode, M. A.

Curator,

Bhandarkar Oriental Research Institute, Poona 4.

Aufrecht[1] records a few Mss of a commentary on the *Siddhānta Candrikā* of RāmacandrāŚrama by Sadānandagaṇi but records no date of composition of this commentary. Dr. Belvalkar[2] refers to this commentary in his account of the "Commentaries on the Sārasvata independently of the Prakriyā" but records no chronology for the work or its author. H. P. Shastri[3] describes a few Mss of Sadānanda Gaṇi's *Subodhinī* but makes no remarks about its date of composition. Prof. H. D. Velankar[4] in his *Jinaratnakośa* or Catalogus Catalogorum of Jain Mss. refers to *Subodhinī Vṛtti* composed by Sadānanda Gaṇi, pupil of Bhaktivijaya of the Kharatara Gaccha but does not mention its chronology. The *Jaina Granthāvali* also refers to this author without recording his chronology. I propose, therefore, to record in this paper some information about this author and his Commentary *Subodhinī* on the *Siddhāntācandrikā*.

---

1. *CC I, 718*—"सिद्धान्तचन्द्रिका gr. by सदानंद Oudh XVII, 22, Comm. सुबोधिनी by the same. L 2911. Oudh XVIII, 56; XVII, 22."

2. Vide p. 102 of *Systems of Sanskrit Grammar*, Poona, 1915. "ii. Sadānanda who wrote a Com. called Subodhinī which has been published at Benares."

3. Vide pp. 151—153 of *Des. Cata. of Vyākaraṇa Mss* (R. A. S. B.) Vol. VI (1931) Calcutta.—Ms Nos. 4456, 4457, 4457A. "Sadānanda appears to be a Jain of the school of Kharatara."

4. The *Jinaratnākośa* records the following Mss of this Commentary :—
"*B. O.* p. 43, 44; *CC I*, p. 718; III, P. 145; *D.B* 36 (5); *JG.* p. 308; *K.B.* 3 (29, 65), 5 (12); *Mitra* IX. p. 20; *Surat* 1. 5"

The Govt. Mss Library at the B. O. R. Institute, Poona contains some Mss[1] of Sadānandagaṇi's *Subodhini*. These Mss were not known to Aufrecht as they were added to the Govt. Mss Library subsequent to the publication of the *Catalogus Catalogorum*. Two of these Mss are important as they contain the verse recording the date of composition of the work viz. *Saṁvat 1799* = A. D. *1743*. In the preliminary six verses of the *Subodhini* Sadānanda gives us some information[2]

1. These Mss are :—
   * (1) *No 347 of 1895—1902*—folios 242
   * (2) *No 294 of 1899—1915*—folios 217
   (3) *No 295 of 1899—1915*—folios 10 (fragment)
   (4) *No 296 of 1899—1915*—folios 139
   (5) *No 261 of 1899—1915*—folios 135

   * The colophon of these Mss reads as follows :—

"श्रीमत्पाठकधुर्यभक्तिविनया नंदंति सद्विद्यया
नानाशास्त्रविचारजातपरमानंदाः स्वभावोज्ज्वलाः ।
संवेगादिगुणैर्वशीकृतजना विख्यातकीर्त्तिप्रभाः
संवर्त्तयितेषकां विनयवान् शिष्यः **सदानंदकः** ॥१॥
निधिनंदार्वभू वर्षे **सदानंदः** सुधी मुदे ।
सिद्धांतचंद्रिकावृत्तिं कृदंते चक्रुवानृजुम् ॥२॥
इति कृदंतं समाप्तम् ॥श्रीः॥"

The chronogram निधि (9) नंद (9) अर्व (7) भू (1) = Saṁvat 1799 = AD 1743

2 MS *No 294 of 1899-1915* begins:—

॥६०॥ पुराणपुरुषं ध्यात्वा नत्वा चार्हतनायकं
सिद्धांतचन्द्रिकावृत्तिं चर्करीमितरामहं १
विद्यारत्नपयोनिधौ **खरतराम्नाये** जगत्पूज्यके
श्रीभट्टारकसंपदां गुणगणैः स्तुत्या धरन् पुण्यवान्
पूज्यश्रीजिनभक्तिसूरिरधिपो वर्वर्त्ति विद्यानिधिः
सोयं शीतकरायते च यशसा सूरीयते तेजसा २
श्रीकीर्त्तिरत्नसूर्याख्यो यतींद्रोभूत्तरांततः
श्रीमत्सुमतिरंगाख्यः पाठकः प्रवरस्ततः ३
श्रीपाठकाः श्रीसुखलाभसंज्ञा जाग्रत्प्रभावा विलसत्प्रतिज्ञाः
तच्छिष्यवर्याः कृतराजिधुर्याः श्रीपाठकाः पाठकचारणेंद्राः ४
श्रीभागचंद्रागणि संप्रवर्हाः संवेगरंगांगनिमग्नविग्रहाः
श्रीभक्तिपूर्वं विनयं हि येषां त्वन्नामधेयं गुरवो वदंति ५
तेषां हि तेषां विनयप्रधानोऽनवद्य विद्याऽभ्यसनैकतानः
प्राज्ञः **सदानंदगणिः** सुशिष्यः करोति वृत्तिं सुगमां **सुबोधिनीं** ६

about himself, his guru Bhaktivinaya and the *Kharataragaccha* to which he belongs. Verse 2 of the six verses giving this information refers to जिनभक्तिसूरि of the खरतराम्नाय who may be identical with his name-sake mentioned in the following *guruparamparā*[1] :—

(A. D. 1743) जिनभक्तिसूरि
|
pupil
जिनलाभसूरि
|
pupil
क्षमाकल्याण (Composed जीवविचारप्रकरणवृत्ति in A. D. *1794* or Sam. *1850*)

Prof. H. D. Velankar states in his *Jinaratnakośa* that क्षमाकल्याण who composed the above vṛtti was pupil of अमृतधर्म of the खरतरगच्छ.

The Commentary of Sadānandagaṇi is rich in citations especially in the Uttarārdha. I may note below some of the authors and works mentioned by this commentator. The number against each reference indicates the folio of Ms *No. 347 of 1895-1902* of this commentary in the Govt. Mss Library.

1—*References in the Pūrvārddha* (folios 1 to 125)

अमरः, 1, 14, 30, 37, 38, 50, 51, 53, 65, 68, 85, 99, 108
पतंजलिः, 2
पराशरः, 33
भारते, 33
यादवः, 37
विश्वः, 46 माधवः, 56
लघुभाष्यकर्तुः, 56 ("इति लघुभाष्यकर्त्तरपि प्रयासो व्यर्थ एव")—This is evidently a criticism of an earlier commentator
हरदत्तः, 70
वृत्तिकारः, 72
हरिः, 73, 113
उदीचीनामाचार्याणां मते 90
हैमः, 102, 119

---

1 Vide p. 220 (MS 1372-1) of *Cata. of Bodleian MSS, Vol. II (1905)* by Keith and Winternitz.

Colophon on folio 125—

"श्रीमत्पाठकवर्यभक्तिविनया विख्यातकीर्त्तिप्रभा
राजेन्द्रैः परिपूजिताः सुकृतिनः पुंभाववाग्देवताः ।
मंतारो जगतां पतिं गुणगणैर्विभ्राजमानाः सनत् (?)
संवेगादियुजो जयंतु सततं षट्शास्त्रविद्याविदः ॥१॥
तेषां शिष्यः सदानंदस्तदनुग्रहभूषितः ।
सिद्धांतचंद्रिकावृत्तिं पूर्वार्द्धेऽचकरीदिमां ॥२॥

इति श्रीसिद्धांतचंद्रिकाव्या (रव्या) यां सदानंदकृतौ सुबोधिन्याख्यायां पूर्वार्द्धं समाप्तं शुभं भवतु कल्याणमस्तु श्रीरस्तु ।"

II—*References in the Uttarārddha* (Folios 1 to 117)

This section begins : —"श्रीसरस्वत्यै नमः ॥"

सार्व्वीयं सच्चिदानंदं नामं नाभं जगत्प्रभुं ।
सिद्धांतचंद्रिकाख्यातवृत्तिश्चेक्रियतेतराम् ॥१॥

माघः 8, 27, 73 80. 85, 93

श्रीहर्षः, 8, 32, 59

नैषधे, 21

मनोरमायां, 22—This is possibly a reference to the प्रौढमनोरमा of Bhaṭṭoji Dīkṣita (A D. 1560-1620)

अमरः, 24, 72, 75, 81

माधवमते, 38

भट्टिः; 56

Colophon on folio 64 "इति लकारार्थप्रक्रिया ॥

बुद्धिमांद्यवशाक्किंचिद् यदशुद्धमलेखि तत् ।
द्वेषभावं समुत्सृज्य सोधनीयां मनीषिभिः ॥१॥

इति सिद्धांतचंद्रिकाव्याख्यायामाख्यातं कामं समाप्तिमगमत् ॥

॥ श्रीसरस्वत्यै नमः ॥ प्रतोष्टय जगन्नाथं सदानंदेन संमुदा ।
सिद्धांतचंद्रिकावृत्तिः क्रियते कृत्प्रकाशिका ॥१॥

हैमः 70, 75, 82, 84, 86, 98, 107

रघुः, 75, 78

हरचंद्रः, 81; 82

रत्नमाला 81

विश्वः, 81, 82, 83 (A.D. IIII)

मेदिनी, 82, 83, 85, 86

वररुचिकोशः, 82

शाश्वतः, 82

धरणिकोशः 83, 93

त्रिकांडशेषः 83, 86
विश्वप्रकाशः, 84
रंतिदेवः, 84
चंद्रः, 84
संसारावर्तः, 84
विक्रमादित्यकोशः, 86, 99
वैजयंती, 86
अजयकोशः, 96, 106
हेमचंद्रः, 96, 99
द्विरूपकोशः, 98, 106
शब्दार्णवः, 100
वायुपुराणे, 105

The foregoing analysis of the Mss of *Subodhinī* of the Jaina commentator of the *Siddhānta—Candrikā* proves the following points about his history and Chronology :—

(1) Sadānandagaṇi (=S) Composed this Commentary in A. D. 1743.

(2) S belonged to the *Kharataragaccha*, his guru being *Bhakti-vinaya*.

(3) S was a very close student of Sanskrit grammar as will be seen from his voluminous commentary *Subodhinī* and his acquaintance with the works of previous writers on grammar as also the numerous lexicons quoted by him profusely in his work.

(4) S shows in an ample degree the interest of the Jaina writers[1] in sankrit grammar as late as the middle of the 18th century and maintains the great tradition of scholastic studies established by such early writers on grammar like Srī Hemacandrācārya.

I shall feel thankful to our Jaina scholar friends if they bring to light any other works of Sadānandagaṇi known to them either with private persons or public libraries not accessible to me.

---

1. Prof. H. D. Velankar in his *Jinaratnakośa*, which is now being published by the Bhandarkar O. R. Institute, Poona refers to three Jaina Commentaries on the *Siddhānta—candrikā* of Ramacandraśrama :—
   (1) *Subodhinī* by Sadānandagaṇi, the subject of my present paper.
   (2) *Tippaṇa* by Candrakīrti which is different from his Commentary on the *Sārasvataprakriyā* (Candrakīrti flourished about A. D. *1550*)
   (3) Tīkā (anonymous)

On the Latest Progress of

Jaina and Buddhistic Studies*

By

Dr. A. N. Upadhye

Apart from the field of Middle Indo-Aryan languages, the Jaina and Buddhist authors have contributed their mite to the various branches of Indian learning not only in Sanskrit but also in some of the Dravidian languages. Of the two major Kāvyas in Tamil attributed to Buddhist authors, only Maṇimekhalai has come down to us; and the chances of discovering Kuṇḍalakeśī are growing remote. Orientalists are studying Buddhist and Jaina texts in their respective lines of study such as lexicography, metrics, grammar, polity, Nyāya, medicine and calculatory sciences; but they are usually confined to Sanskrit, because the material from the Tamil and Kannaḍa works is not easily available for those who do not know these languages.

For the treatment of the subject-matter it may look convenient to take up Jaina literature as an unit of study, though the Jaina authors clearly show that their cultivation of literary lines was not isolated from the other streams of Indian literature. Pūjyapāda is fully conversant with the Mahābhāṣya of Patañjali; Akalaṅka studied and refuted the Buddhist logicians that flourished before him, and Haribhadra wrote even a commentary on the Nyāyapraveśa of Dignāga; poets like Ravikīrti and Jinasena show a respectful familiarity with the works of Kālidāsa and Bhāravi; and authors like Siddhicandra and Cāritravardhana wrote commentaries on the works of Bāṇa and Māgha. Thus the study of Jaina literature is quite essential to fully appreciate the growth of the network of Indian literature as a whole.

---

* This forms a portion of the Address delivered by Prof. A. N. Upadhye, as the President of the Prākrit, Pāli, Ardha-māgadhī (Jainism and Buddhism) Section of the Eleventh All-India Oriental Conference, Hyderabad, December, 1941.

The Jaina authors were pursuing their literary activities, almost side by side, in Prākrit, Sanskrit, Apabhraṁśa, Tamil and Kannaḍa; and some authors took pride in styling themselves 'ubhayabhāṣā-kavicakravarti' etc., because they could compose poems etc., in two languages. It is difficult for one and the same scholar to master all these languages; so the time has come now when systematic labours in different fields might be pooled together for settling finally various items in the chronology of Indian literature. The Jaina works found in these languages are so much interrelated that texts of identical names and similar contents are found in different languages at different periods. I may give only one illustration. Jayarāma wrote a Dharmaparīkṣā (DP) in Prākrit; based on this we have the Apabhraṁśa DP of Hariṣeṇa written in A.D. 988; Amitagati wrote his Sanskrit DP in A. D. 1014; and by about the middle of the 12th century Vṛttavilāsa wrote his DP in Kannaḍa. Hariṣeṇa belonged to Chitor, Amitagati is associated with Ujjain or Dhārā, and Vṛttavilāsa is a native of Karnāṭaka. This interlingual and interprovincial influence underlying the various works is sure to contribute interesting details to our structure of Indian literature. The late lamented R. Narasimhachar often felt the need of checking the relative chronology of Kannaḍa literature with the help of other Jaina works in Prākrit and Sanskrit. More than once it is the references from Kannaḍa works that have put reliable limits to the dates of some Prākrit and Sanskrit authors. But this has not been done, to any appreciable extent, with regard to Tamil literature, as far as I know. The Tamil scholars have occupied themselves in constructing a relative chronology which requires to be adjusted by a comparative study of corresponding works in Sanskrit and Prākrit There should be no presupposition that every Tamil or Kannaḍa work is later than a similar work in Prākrit or Sanskrit, because we know that Keśavavarṇi's Kannaḍa commentary on the Gommaṭasāra was translated into Sanskrit by Nemicandra. A critical and dispassionate comparison of the contents would show in many cases which is the earlier and which is the later work; and when some facts are brought to light, hardly any scope is left for mere opinions. It is being accepted by some scholars now that Maṇimekhalai is later than Dignāga. If a Tamil work refers to Indra's Grammar sacred to the Jainas, we are

reminded of the Jainendra Vyākaraṇa which is more than once understood as Indra's grammar. It is necessary, therefore, to see how far Tolkāppiyam and Nannool are indebted to the Jainendra—Vyākaraṇa. It is expected that Tamil scholars would institute a critical comparision of Jīvakacintāmaṇi, Yaśodharakāvya, Nāgakumārakāvya etc., with corresponding works in Sanskrit whose dates are nearly settled. Tamil scholars like Shivaraj Pillai are growing suspicious about the ages of early Saṅgams the traditions about which are described as 'entirely apocryphal and not deserving any serious historical consideration.' At any rate a comparative study of Jaina works in Tamil and Sanskrit would help us to adjust rightly the chronology of Tamil literature. I believe, Prof. Chakravarti's essay, Jaina Literature in Tamil (Jaina Siddhānta Bhavana, Arrah, 1941), would attract the attention of many scholars to the contents of important Jaina works in Tamil

The Nyāya branch of early Indian literature has attracted comparatively little attention of the Orientalist. The Jaina Nyāya works are almost untouched, though for centuries together eminent authors have discussed the principles of Jainism in relation to other Indian systems of thought in a highly elaborate style. In the beginning it was Pathak and Vidyabhushan who wrote a good deal about the chronology of these texts; but lately so much new material is coming to light that we have to change many of our earlier conclusions. Prof. H. R. Kapadia is editing Anekāntajayapatākā with Svopajñavṛtti and Municandra's commentary in the G. O. S. (Vol. I, Baroda, 1940). In his excellent edition of Akalaṅka's three works, Akalaṇka-granthatrayam (Siṅghī Jaina Granthamālā. No. 12, Ahmedabad 1939), not only a new work of Akalaṅka has been brought to light but also a good deal of fresh information about Akalaṅka's age and exposition is put forth by Pt Mahendrakumar in his learned Introduction. Equally important is his edition of Nyāyakumudacandra (Māṇikachandra D. Jaina Granthamālā, Vols. 38-39, Bombay 1938—41). The text is presented with valuable comparative notes which testify to the deep study of the Editor in the wide range of Indian Nyāya literature. The two Introductions, one by Pt. Kailashchandra and

the other by Pt. Mahendrakumar, are rich contributions quite valuable for the new wealth of material and fresh outlook. Pt. Sukhlalaji of the Benares Hindu University is a rare genious, and his all-round mastery of Indian Nyāya literature is remarkable. His outlook is fresh, his analysis is searching, and his penetration is deep. His comprehension evokes admiration though one differs from him on some points. We owe to him and his colleagues two nice editions, Jaina Tarkabhāṣā and Pramāṇamīmāṁsā (Singhi Jaina Series, Ahmedabad 1939). The material that has come out through these volumes would require us to re-estimate many of our views about the medieval Indian logic. In representing the Pūrvapakṣa views these Jaina texts show remarkable impartiality, as observed by Winternitz, that their philosophical discussions are of great value to us in studying Indian philosophy. It is necessary that some of these texts should be carefully translated into English. Lately the smaller edition of Sanmati Tarka in Gujarātī by Pts. Sukhalal and Becharadas has been translated into English by Profs. Athavale and Gopani (Bombay 1939).

Some of the Buddhist logical texts were known to us only through their Tibetan translations and references. But through the zealous explorations of Tripiṭakācārya Rahula Sankrityayana many Sanskrit texts have once more reached the land of their birth; and he has already edited, partly or completely, texts like Parmāṇavārtika (with its commentaries), Vādanyāya etc. Lately attempts have been made to restore the Sanskrit text of Ālambanaparīkṣā and Vṛtti of Diṅnāga from the Tibetan and Chinese versions (Adyar L. B. III, pts. 2—3) by N. Aiyaswami Shastri with whose edition of Bhāvasaṁkrāntisūtram of Nāgārjuna (Madras 1938) we are already acquainted. Trisvabhāvanirdeśa of Vasubandhu, Sanskrit text and Tibetan version, is edited with English translation by Sujitkumar Mukherjee (Viśvabhāratī, 1939). The English translation of Tattvasaṁgraha has been now completed by Dr. Ganganath Jha in the G. O. S. (Vols. 80-83, Baroda 1937-39). The text and translation of this important work have added to the dignity of G. O. S. which has now assumed the form of a miniature Oriental Library. Important problems from this text have been lately studied by A. Kunst in his

Problems der Buddhischen Logik in der Darstellung des Tattva-saṁgraha (Krakow 1939).

Due to the religious injunction of Śāstradāna, the studious zeal of the ascetic community and the liberal patronage of rich laymen, we have in India many Jaina Bhaṇḍāras which on account of their old, authentic and valuable literary treasures deserve to be look upon as a part of our national wealth. Mss. are such a stuff that they cannot be replaced if they are once lost altogether. We know the names of many works from references and citations, but their Mss. are not found anywhere. To the historian af literature Mss. are valuable beyond measure. Jaina authors, both in the North and South, did not confine themselves to religious literature alone, but they enriched by their works, both literary and scientific, different departments of Indian learning. As such Jaina Bhaṇḍāras are rich treasures requiring patient study at the hands of the Indologist. There was a time when the communal orthodoxy came in the way of opening these treasures to the world of scholars, but now the conditions are almost changed. Through the efforts of a series of scholars like Bühler, Kielhorn, Bhandarkars, Kathawate, Peterson, Weber, Leumann, Mitra, Keith, Dalal-Gandhi, Velankar, Hiralal, Kapadia and others we possess today various Descriptive Catalogues which are highly useful in taking a survey of different branches of Jaina literature. Bṛhaṭṭippaṇikā and Jaina Granthāvali were some of the preliminary and cursory attempts to take a consolidated view of Jaina literature as a whole. Prof. H. D. Velankar has compiled the Jinaratnakośa, Catalogus Catalogorum of Jaina Mss., which is in the Press. It is published by the B. O. R. I., Poona; and we earnestly hope that it might be out within a year or so. It is a magnificent performance of major importance; and Prof. Velankar has achieved single-handed what an institution alone would have dared to undertake. When published, it will give a fresh orientation to all the studies in Jaina literature. A revision of Aufrecht's Catalogus Catalogorum has been undertaken by the Madras University; and according to the present plan, it is proposed to include 'all such literature, Jaina or Buddhistic, in Sanskrit or Prākrit, as would facilitate one's view of ancient Indian cultural developments'. The provisional

fasciculus shows that important references to critical discussions are also included. The plan is really praiseworthy. With the help of this work Jaina literature can be studied with much more precision in the grand perspective of Indian literature. Though the field is thus being circumscribed, there are still important Bhaṇḍāras at Idar, Nagaur, Jaipur, Bikaner and other places which are not as yet duly inspected; and there are no authentic reports of the Mss. collections of the South in places like Moodbidri, Humch, Varanga, Karkal etc., where piles of palm-leaf Mss. are preserved.

Because of their antiquity and authenticity these collections afford material for various lines of study. Some of the old Dèvanāgari Mss. at Jaipur, Patna, Jessalmere, Poona and Karanja go back to the 12th century A.D. By selecting a series of Mss, with definite dates and localities, it may be possible for us to prepare a sketch of the evolution of Devanāgarī alphabets from period to period; and thus it would be possible to supplement the tables already prepared by Ojha and Bühler from inscriptions. These Mss. have attracted the attention of some scholars. The Introduction of Muni Punyavijayaji to the Jaina Citra Kalpadruma (Ahmedabad 1935) is a solid contribution on the paleography and calligraphy so far as the Mss. from Gujarata are concerned. Prof. H. R. Kapadia also has discussed some of these topics lately in his papers: Outlines of Paleography and The Jaina Mss. (JUB. VI, part 2, VII, part 2). The material for the study of miniature painting from these Mss. is partly used by Brown, Nawab and others. With regard to Jaina Cave paintings there is a recent publication, 'Sittannivasal: an album of the rock-cut Jaina cave temple and its painting' by L. Ganesh Sharma of the Pudukottah state

The Mss., many of which are dated, contain a good deal of chronological material which, apart from its being highly valuable for the ecclesiastical history of the medieval and post-medieval Jaina church, is often useful in fixing and confirming the dates of Indian history. Though they are not found in every Mss, there are three types af Praśastis; first, the Praśasti of the author which gives many details about him, his spiritual genealogy, when and for whom he

wrote the work etc.; second, the Lekhaka-praśasti which gives information about the copyist and for whom he copied etc.; and lastly, the Praśasti of the donor which gives some facts about his family and about the monk etc, to whom the Mss. was given as a gift. Such information is more plenty in the Mss. from Gujurat and Central India than in those from Karṇāṭaka aud Tamil territory. Lately a bulky volume of Lekhaka-praśastis has been published from Ahmedabad; and if an exhaustive attempt is made, many more such volumes can be easily brought out. The admirable collection 'Sources of Karnāṭaka History, Vol. I' (Mysore 1940) compiled by Prof. S. Śrīkaṇṭha Śāstri shows that even in piecing together the information of Indian history, partly or as a whole, the Praśastis of Jaina authors form a valuable source. If these are duly co-ordinated and studied in comparison with the Pratimā-lekhas, plently of which are found inscribed on Jaina images and many of which are published also, and with other Jaina inscriptions, not only would new facts come to light, but well-known facts would also get inter-related; and we shall get very good results in our chronological studies. It is by such interlinking of detached pieces of information that the age of the famous Mss. of Dhavalā could be determined and the identity of Malli Bhūpāla could be spotted. To-day it is a game of luck; but this factor of chance has to be eliminated by preparing exhaustive. Indices of names etc. for all these sources on the model of Guerinot's Repertoire d'Epigraphie Jaina. The chronological material that we get from Praśastis and Inscriptions is very valuable; and sometimes the dates have been found to be so definite that one often feels that Whitney's oft-quoted remark that all dates given in Indian literary history are pins set up to be bowled down again, though true in 1879, requires to be uttered with certain reservations now.

Rice, Narasimhachar, Guérinot, Saletore and other scholars have fruitfully worked on the Jaina inscriptions which shed important light on the different aspects of Jainism and often refer to contemporary rulers etc. The inscriptions on the Jaina images and in the temples, many of which have been brought to light by Buddhisagaraji, Jinavijayaji, Nahar, Kamtaprasad and others, are very useful in literary chronology because they generally mention outstanding

contemporary teachers who are often authors themselves. The Jaina inscriptions from the Epigraphia Carnatica have proved very fruitful in reconstructing the role of Jainism in Karnāṭaka ; and this is borne out by two latest publications, namely, Mediaeval Jainism (Bombay 1938) by Dr. B. A. Saletore and Jainism and Karnāṭaka culture (Dharwar 1940) by Prof. S. R. Sharma.

The monograph, The Kannaḍa Inscriptions of Kopbāḷ, published by the Archaeological Department of H. E. H. Nizam's Government, has given us a rich specimen of the Jaina inscriptions plenty of which, it is reported, are found scattered all over the area of this dominion. The department is working under the liberal patronage of H. E. H. the Nizam and its activities are conducted by a veteran archoeologist, Mr. Ghulam Yazdani, the worthy President of our Conference; so I have every hope that many more Jaina inscriptions from this area would be brought to light in the near future.

From the inscriptions found in places like Deogarh and the records actually published in the Epigraphia Indica, it appears that many Jaina inscriptions, which are not of outstanding importance in reconstructing the political history of the land, still lie in the archives of the Government departments of Archaeology and Epigraphy. We can understand the difficulty of publishing all the records, at any early date, by these Departments, especially when we know that the Government have always a step-motherly attitude in financing such academic lines as archaeology and epigraphy. Under such circumstances, it is in the interest of Oriental studies that those records, which are not being published officially, might be made available to bonafide scholars who are interested in Jaina inscriptions and are working in institutions like the Bhandarkar O. R. Institute, Poona, Bhāratīya Vidyā Bhavana, Bombay etc. Many of these records, though not very important for the political history of the country, may give valuable clues to indentify authors and places in Jaina literature. Moreover they may help us in reconstructing the history of Jainism in different localities.

Just as Dr. Bhandarkar has brought uptodate and revised the lists of inscriptions compiled by Kielhorn, it is quite necessary that

some scholar, who is working in a centre where archaeological and epigraphic publications are easily accessible, should try to bring upto date and revise the monumental publication of Guérinot noted above. Since 1906 many records have come to light in different parts of the country; and the rich wealth of facts from them cannot be adequately used in the absence of such a work. An upto date resume of all the published Jaina inscriptions would immensely advance the cause of Jaina studies.

Jaina Iconography is an important aspect of the ancient Indian iconographic art. In spite of the large number of Jaina images in the temples of the North and South and the rich theoretical material available in the Jaina texts, somehow the study of Jaina Iconography is still in its infancy. Yet one is glad to note that some important work is being done in the last few years. Details may require verification and correction, but an outline is lately attempted by Prof. B. C. Bhattacharya in The Jaina Iconography (Lahore 1939). Noteworthy are some of the latest contributions on this subject by Dr H. D. Sankalia, viz., Jaina Iconography (NIA. II, 8), Jaina Yakṣas and Yakṣiṇīs, The so-called Buddhist Images from the Baroda State, (Bulletin of the Deccan College R. I ,I, 2—4), The story in stone of the great Renunciation of Neminātha (IHQ XVII, part 2), An unusual form of a Jaina Goddess and A Jaina Ganeśa of Brass (Jaina A. IV, P. 84 ff; V, p. 49 ff.). Mr. U, P. Shaha of Baroda is working under Dr. Benoytosh Bhattachary, Oriental Institute, Baroda, on the subject of Jaina Iconography. He has collected a good deal of information from the original sources, and his book is awaiting publication. He has already published a few important papers on this topic: Iconography of the Jaina Goddess Ambikā and the Jaina Sarasvatī (JUB, Arts Nos. 1940—41). Mr. V. S. Agrawal has explained some iconographic terms from Jaina inscriptions (Jaina A. U, p. 43 ff.). Mr. K. K. Ganguli's note on the Jaina Images in Bengal (IC, VI, ii, p. 137 ff.) rightly shows that this part of the counrry needs more scrutinising exploration. In a refreshing article 'Jainism and the Antiquities of Bhatkal (Annual Report on Kannaḍa Research in Bombay Province for 1939-40, Dharwar 1941, p. 81 ff.), Mr. R. S. Panchamuki, Directar of Kannḍa Research, has passingly touched

some aspects of Jaina Iconography. Apart from some of his inauthentic generalisations, he has given a connected account of Jainism in the South and has brought to light some new images from Bhatkal and other places which were once the cultural centres of Jainism. In studying Jaina Iconography, the growth of Jaina pantheon and the origin and evolution of image worship in Jainism should be treated as independent subjects, to begin with, with a historical perspective. Because these two problems get intermingled at a later date, we should not start by confusing them from the beginning. The studies are still in their infancy; we should carefully note all parallelisms in the fields of Hindu, Buddhistic and Jaina iconography; and without adequate evidence we should not be eloquent in asserting borrowal from one side or the other.

THE PRAMĀṆASUNDARA OF PADMASUNDARA

By

K. Madhava Krishna Sarma, M. O. L.

Aufrecht does not mention in his Catalogus Catalogorum one of the important Jaina authors, namely Padmasundara, a disciple of Padmameru of Nāgapura Tapāgaccha and a contemporary of Akbar who honoured him with various gifts on his success in a literary contest. Krishnamachariar (History of Classical Sanskrit, p. 294) mentions only two of his works, viz. the Rāyamallābhyudaya and the Pārśvanāthakāvya. A third work of this author, namely the Akbarśāhi Śṛṅgāradarpaṇa has recently been discovered by me in the Anup Sanskrit Library and is now being edited in the Ganga Oriental Series. I have now found a fourth work of his, namely Pramāṇasundara in the same Library.

Description—

No. 8432. Paper M S. 13 folia (numbered 9—21, foll. 1—8 missing). 11″×6″. 15 lines in a page. 45 letters per line. Devanāgarī script. Fairly well written in a small hand. Damaged. Nearly three hundred years old. At the end there is this endorsement in a later hand : पु० महाराजकुंवर श्रो४ अनूपसिहजीरोछै ॥ प्रमाणसुन्दर ॥

Padmasundara is hitherto known only as a poet. The extracts given here from his Pramāṇasundara will show that he was a great philosopher too. The work deals with the Pramāṇas The MS. in the Anup Sanskrit Library is incomplete It contains a portion of the Anumānakhaṇḍa and the whole of the Śabdakhaṇḍa

It begins :

.....स्येति साध्यविकलम् । परमाणुषु तु साध्यमपौरुषेयत्वमस्ति । साधनममूर्तत्वं नास्ति मूर्तत्वात्तेषामिति साधनविकलम् । घटे तूभयमपि नास्ति पौरुषेयत्वान्मूर्तत्वाच्चास्येत्युभय विकलम् । रागादिमान्सुगतो वक्तृत्वादे रथ्यापुरुषवदिति रथ्यापुरुषे साध्यस्य प्रत्यक्त्वेन निश्चयात् वचनस्य च तत्र दृष्टस्य तदभावेऽप्यनिश्चयासंभवादिति संदिग्धसाध्यम् । मरणधर्मायं

रागादिति संदिग्धसाधनम्। असर्वज्ञोऽयं रागादिसंभवादिति संदिग्धोभयं रागादिवदसर्वज्ञस्यापि तन्निश्चेतुमशक्यत्वात्। रागादिमानयं वक्तृत्वात्। तत्र रागादेरसिद्धौ तदन्वयस्यासिद्धेरित्यन्वयः। यदनित्यं तत्कृतकमिति विपरीतान्वयः। अनित्यः शब्दः कृतकत्वाद्घटवदिति। ततोऽत्र यद्यत्कृतकं तत्तदनित्यमित्यन्वयप्रदर्शनस्यात्रामावादप्रदर्शितान्वयः। तदित्थं नवान्वयदृष्टान्तामासाः।

Fol. 15 a : नापि भेदव्यवहारः कर्तुं शक्यः स्वहेतुभ्योऽसाधारणतयोत्पन्नानां सकलभावानां प्रत्यक्तत्वेन प्रतिमासमानादेव भेदव्यवहारस्यापि प्रसिद्धेरलमनर्थकप्रयासेनेति प्रतिक्षिप्रश्चेतरेतरामाव इति सिद्धं भेदाभेदात्मकं सामान्यविशेषविषयात्मकमर्थज्ञानं प्रमाणमिति।

Fol. 15 b : वर्णक्रमस्यैव पदादित्वात्तदन्यस्य स्फोटात्मनोऽप्रतिपत्ते इतरेतरदोषपरिहारावस्थायिनां कारकाणामप्येकत्र कार्योपधास्वदेशंभावादि वर्णानामपि ?) यथास्वकालं विद्यमानत्वस्याविशेषादवश्यमेवाभ्युगन्तव्यम् ... ... ।

Ends :

गच्छे श्रीमत्तपाख्ये जनिर……विस्फारकीर्तिः
श्रीमानानन्दमेरुस्त्रिभुवनजनतानन्दतातन्द्रचन्द्रः ।
तच्छिष्यः पद्ममेरुः श्रुतसलिननिधेः पारदृश्वामितद्युः
श्रौतस्मार्तागमानामसकलसकलब्रह्मवेदी विनेयः ॥
स तस्य पद्मसुन्दरः प्रमाणसुन्दरं व्यधात् ।
प्रमाणयन्तु कोविदाः प्रमाणिकामिमां गिरम् ॥
इति श्रीयन्नागपुरीयतपागच्छ ... ...

श्रीपद्ममेरुप्रणिहितोत्तमसद्विनेयश्रीपद्मसुन्दरविरचिते श्रीप्रमाणसुन्दरप्रकरणे शब्दखण्डः समाप्तः ॥ श्रीरस्तु ॥ कल्याणमाला आविर्भवन्तु ॥

ADVENT OF JAINISM.*

By

Prof.—D, S. Triveda.

The greatest achievement of Jaina thought is its ideal of Ahiṁsā-non-violence, towards which, as the Jainas believe, the present world is slowly, though imperfectly moving. The word Jaina is derived from Jina[1] —the victor. It is also applicable to all those men and women who have conquered their lower nature, and all attachment and antipathies and realised the highest[2].

It is difficult to fix a particular date for the origin of Jainism. According to the Jaina tradition the Nirvāṇa of Ṛṣabha the first Tīrthaṅkara took place on Māghs Kṛṣṇa Caturdaśi 4134526303082031777495121919999999999999999999999999999999999999999999999960482 years ago[3]. The Hindus regard him as the eighth incarnation of Viṣṇu whose 24 incarnations[4] are enumerated in thc Purāṇas.

The script of Mohen-jo-Daro has not yet been successfully disciphered but according to some interpretations ventured by a scholar in some of the seals the inscription may be read as 'Namo Jineśvārāya'. The nude statues (which look like those of divinities or saints) of the Indus valley may be the prototypes of the Digambara Tīrthaṅkara statues worshipped by Nagna-Kṣapaṇaka.

It has been revealed again and again in every one of the endless succeeding periods of the world by twenty-four Tīrthaṇkaras[5] (one who has crossed over[6] i e. the worldly ocean. (Cf. The body is the

*A chapter from the author's book "Pre-Mauryan History of India" to be published shortly.

1. (Unadi. III. 2).
2. S. Radhakrishnan's Indian Philósophy, London, 1922, Vol. I. 286.
3. Jaina Antiquary, Vol. III. p. 23.
4. The Puranas differ as to the number of incarnations. The incarnation theory was probably established by the 8th century A. C.
5. C. J. Shah's Jainism in North *I*ndia (800 B. C.—A. D. 526) Longman's Green & Co. 1932 p. 3.
6. Another plausible explanation is (तीर्थं करोति धर्मोपदेशं करोतीति) one who preaches the religion.

boat, life is the sailor, and the circle of the Births is the ocean which is crossed by the great sages[1]). The lives of many of these Tīrthaṅkaras have been worked out at great length in legendary forms in the Jaina Canon and life sketches. The followings are the twenty-four Tīrthaṅkaras of the Jainas : —

Ṛṣabha, Ajita, Saṁbhava, Abhinandana, Sumati, Padmaprabha, Supārśva Candraprabha. Puṣpadanta or Suvidhi, Śītala, Śreyāṁsa, Vāsupūjya, Vimala, Ananta Dharma, Śānti, Kunthu, Ara Malli, Munisuvrata, Namī, Nemi or Ariṣṭanemi, Pārśvanātha, Vardhamāna. Of these Mallinātha and Naminātha were born at Mithilā while Munisuvrta was born at Rājagṛha, and Māhavīra at Kuṇḍagrāma in Vaiśālī. All except Ṛṣabhadeva and Neminātha attained Nirvāṇa in the province of Bihar, Vāsupūjaya at Campā and Mahavīra at Majjama-Pāvā and the rest at Sammeda Śikhara (Pārśvanātha Hill) in the Hazaribagh district[2].

ITS RELATION TO BRAHMANISM.

Their only real gods are their Tīrthaṅkaras and Siddhas (those who have attained mokṣa) chiefs or teachers, whose idols are worshipped in their temples.'[3] The Jainas flatly deny an eternal God, but they believe in the eternity of existence, universality of life, immutability of the law of Karma or action, and right knowledge right belief and right conduct as the means of self-liberation. Though Karma decides all, we ourselves can undo out past Karma in our present life[4] by austerities. Regarding God, they argue as follows :—

If God created the universe, where was he before creating it ? If he was not in space, where did he localise the universe ? How could a formless or immaterial substance like God create the World of matter ? If the material is to be taken as existing, why not take the world itself as eternal ? If the creator was uncreated, why not

1. Uttarādhyayana 23, 73. Vol. 45 S. B. E.
2. Anekānta, Vol. III. p. 521. Jainiyon ki Dṛṣṭi me Bihar.
3 Hopkins E. W. The Religions of India, London, 1910, pp. 285-6'
4, C. L. Shah. pp. 34-35.

suppose the world to be itself self-existing ? Is God self-sufficient ? If he is, he need not have created the world. If he is not, like an ordinary potter, he would be incapable of the task, since by hypothesis, only a perfect being could produce it. If God created the world as a mere play of his will, it would be making God childish. If God is benevolent and if he has created the world out of his grace, he would not have brought into existence misery as well as felicity[1]. If it is argued that every thing that exists must have a maker, that maker himself would, stand in need of another maker and we would be landed in a cycle[2]. The Jaina philosopher puts forward the hypothesis of a number of substances. 'The whole universe of being, of mental and material factors, has existed from all eternity, undergoing an infinite number of revolutions produced by the powers of nature without the intervention of any external deity. The diversities of the world are traced to the five co-operative conditions of time (kāla), nature (svābhava), necessity (niyati), activity (karma) and desire to be and to act (udyama)[3].

The Jaina holds that men are born in lower or higher castes, determind by their sins or good works in a former existence, but at the same time by a life of purity and love, by becoming a spiritual man, everyone may attain at once the highest salvation. Caste makes no difference to him; he looks for the man in the Cāṇḍāla but according to the Digambaras, Śūdras and women cannot attain mokṣa in their present life.

The Jainas were jealous of Brāhmanas on account of their haughtiness and the high-respects paid to them by the populace. According to them a born Brāhmaṇa may become a Kevali (possessor of spiritual nature), and attain Mokṣa, but he cannot become a Tirthaṅkara[4]. The Kalpasūtra says[5]: "It never has happened, nor does it happen, nor will it happen that Arhats (those entitled to the homage

1. Jinasena' Ādipurana, Ch. IV, Mysore, 1933, composed in 783 A. C.
2. C. L. Shah, p. ?
3. Radhakrishnan, p. 330.
4. C. L. Shah, p. 22.
5. S. B. E. XXII, (Jaina Sutras by H. Jacobi) p. 225.

of gods and men), Cakravartins, Baladevas or Vāsudevas, in the past, present or future, should be born in low families, mean families, degraded families, poor families, indigent families, beggars' families or Brahmanical families. For indeed Arhats, Cakravartins, Baladevas, and Vāsudevas, in the past, present and future, are born in high families, noble families. royal families, noblemen's families, in families belonging to the race of Ikṣvāku or of Hari. or in such like families of pure decent on both sides."

The Jaina Tīrthaṅkaras are not reborn like the incarnations of Viṣṇu. The Tīrthaṅkara takes his last birth and becomes a Mukta. The Jainas deny the authority of the Vedas.

PĀRŚVA.

Everything connected with the life of Pārśva[1] happend in Viśākhā asterism. He was conceived of king Aśvasena—a ruling magnet at Benares and his wife Vāmā on the fourth dark fortnight of Pauṣa at midnight in B. C. 949. He was the people's favourite. He lived thirty years as a householder. He left the city on the eleventh day of Pauṣa dark fortnight. After fasting for a three and a half-days without drinking water he put on a divine robe, tore out his hairs and entered houselessness. He neglected his body for 83 days and entered Kevala on the fourth day of dark Caitra under a dhātakı tree. He had 16,000 Śramaṇas with Āryadatta at their head 38,000 nuns with Puṣpacūlā at their head, 164,000 lay votaries with Suvrata at their head. He was a Kevalin for less than 70 years, and a Śramaṇa for full 7o years. An he died on the eighth day of the bright Śrāvaṇa at the age of 100 in B C. 849 on the summit of Mount Sammeda. His Lāñchana is a snake.

HIS HISTORICITY.

The return to reason in the stature and years of the last two Tīrthaṅkaras induced some scholars to draw a probable inference

1. See Kalpasūtra (S B.E.) p. 271-74.
The name was given to him because before his birth his mother, lying on her couch, saw in the dark a black serpent crawling about (Pārśve).

that the last two alone are to be considered as historical personages[1]. The opinion that Pārśva was a real person is specially supported by the circumstances that the duration of his life does not at all transgress the limits of probability as is the case with his predecessors[2]. The Hill of Sammedaśikhara—Pārasanath Hill is a monumental proof. Both in the Kalpasūtra[3] and the Triṣaṣṭhiśalākācarita[4] of Hemacandra we find that on the eve of his Nirvāṇa, Pārśva came down to this hill and attained the Mokṣa.

In the Sāmaññaphala Sutta[5], the Cātuyāma Saṁvara Saṁvuto 'the System of the Nātaputta is referred to. Jacobi[2] says that this Caturyāma 'is applied to the doctrine of Mahāvīra's predecessor Pārśva, to distinguish it from the reformed creed of Mahāvīra which is called Pañcayāmadharma. The Caturyāmas are non-violence, truthful speech, no-stealing and renouncing all attachments.

Thus Buddhist books give sound proofs which help us to ascertain the historical character of Pārśva's life. There is a story in the Uttarādhyayana[7] that a disciple of Pārśva met a disciple of Mahāvīra in a garden at Śrāvastī and brought about the union of the old Jainism and that propounded by Mahāvīra. It seems to suggest that this Pārśva was probably a historical person[8].

In the pre-historical development of Jainism, the last point which we can perceive is Pārśva; beyond him all is lost in the midst of fable and fiction[9].

MAHĀVĪRA.

About the history of Jainism for 250 years during ths period of Pārśva's Nirvāṇa and Mahāvīra's birth, we are quite in the dark.

1. C. L. Shah, p. 3.
2. Lassen, I. A. II. 261.
3. Kalpasūtra 168 (Sutra)-
4. IX. V. 216. 319.
5. Second Sutta of Digha Nikāya. (I. 47-48).
6. I. A. IX. 160.
7. S. B. E. Vol 45. Uttarādhyayana, Lecture 23.
8. S. N. Dasgupta's History of Indian Philosophy, I. 169.
9. Jacobi, S. B. E Vol. 45. p. 163.

Mahāvīra like any other Jina (Victor of all human passion and infirmities) enjoyed no better position than that of a reformer in the galaxy of the Tīrthaṅkaras of Jainas[1]. He worked out for himself the solution of the riddle of the cosmos, which placed man's fate, for weal or woe, here and thereafter, in man's own hands, and taught him to look not beyond himself for hope or aid[2]. He added a fifth dogma of chastity (Brahmacarya), quite distinct from the aparigraha of Pārśva. He proclaimed in India the message of salvation that religion is a reality and not a mere social convention—that salvation comes from taking refuge in that true religon, and not from observing the external ceremonies of the community—that religion cannot regard any barrier between man and man as an eternal verity[3].

HIS LIFE.

The venerable ascetic[4] Mahāvīra's five important moments of his life—His conception, his removal of embryo, his birth, his becoming a recluse, and his attainment of Kevala—happend when the moon was in conjunction with the asterism Uttaraphālgunī. But he obtained final liberation in the Svātikā

According to the legends he took the form of an embryo at midnight in the womb of Devanandā of the Jālandharāyaṇa gotra, the wife of a Brāmaṇa Ṛṣabhadatta of Koḍala gotra in the Brahmanical part of the town of Kuṇḍagrāma—a suburb of Vaiśālī. He was born as a lovely and handsome child after nine months and seven and a half days, on Caitra Śukla 14 in B.C. 599(527—72). According to the Kalpasūtra[5], he was replaced as an embryo in the womb of the Kṣatriyāṇī Priyakāriṇī or Triśalā of the Vasiṣṭhagotra, wife of the Kṣatriya Siddhārtha of the Kāśyapa gotra, belonging to the clan of the Jñāta Kṣatriya; and Triśalā's embryo was placed in that of Devanandā the Brāhmaṇī. It seems from the legends to be somewhat probable that their respective children when young were

1. C. L. Shah, p. 3.
2. C. L. Shah, p. 18.
3 Rabindranath Tagore, as quoted in the Hindi Viśvakoṣa (See Jainadharma)
4. S. B E. XXII, p. 217 ff.
5. Ibid, p. 226.

exchanged and the Brāhmaṇa child being of extraordinary qualities was brought up in a royal family[1]. On his birth there was all round prosperity and gold and silver increased, so the child was called Vardhamāna by his parents. He was later on called Śramaṇa because he was devoid of love and hate. He stood firm in midst of dangers and fear, patiently bore hardships and calamities, adhered to the chosen rules of penance, was wise, indifferent to pleasure and pain, rich in control and gifted with fortitude, so he was called Mahāvīra by the gods (wise)[2].

His mother Triśalā was the sister of the chieftain of Vaiśālī. In Nandivardhana and Sudarśana he had his eldest brother and sister respectively. Mahāvīra married Yaśodā of Kauṇḍinya gotra and had by her a daughter Anojā also called Priyadarśanā who was married to his nephew Prince Jāmāli—a future disciple of his father-in-law[3] and the propagator of the first schism in the Jaina church[4].

On Mārgaśiras Kṛṣṇa 10th, when the shadow had turned towards the east (i.e. in the evening), at the age of 30, he left home with the permisson of his elder brother and entered the spiritual career which in India just as the church in the western country, seems to have offered a field for ambitious younger sons[5]. He wore clothes for one year and one month. (According to the Digambaras he wore no clothes). After that he walked naked. For more than 12 years, he neglected the care of his body. In the thirteenth year on Vaiśākha Śukla 10th, he reached the highest knowledge and intuition called Kevala in the evening, outside the town of Jambhiyagāma on the bank of the river Ṛjupālikā[6], not far from an old temple,

1. There was no transfer of the embryo according to the Digambara works and Mahāvīra was born in a Kṣatriya family.
2. Kalpasūtra, 255.
3. According to the Digambaras, he was not married at all.
4. C. L. Shah, p. 24
5. Radhakrishnan, p 287.
6. The river Barakar near Giridih in the district of Hazaribagh. From an inscription in a temple about 8 miles from Giridih, containing foot-prints of Mahāvira, it appears that the name of the river, on which it was originally situated but in a different locality, was Rjupālika, the present temple being erected with the materials of the old ruined temple removed to this place. Hence the original site of the temple must have been Jṛmbhikāgrāma near Parasnath hills. N. L. Dey's Geographical Dictionary of Ancient and medieval India, Calcutta, 1927.

in the field of a householder Samāja, under a Sal tree. He stayed the first rainy season in Atthigāma. He spent three rainy seasons in Campā and Pṛṣṭicampā, twelve in Vaiśālī and Vaṇiggrāma[1], fourteen in Rājagṛha and the suburb of Nālandā, six in Mithilā, two in Bhaddiya, one in Alabhikā, one in Panitabhūmi (a place in Vrajabhūmi), one in Śrâvastī, and one and the last at Pāpāpurī in king Hastipāla's office of the writers[2].

He attained Nirvāṇa at the age of 72, on the fifteenth day of the dark Kārtika in the last quarter of the night at Pāvāpurī—9 miles to the east of Rajgir and became a mukta —in B. C. 527. The eighteen confederate kings of Kāśī and Kosala and nine Mallakis and nine Licchavis, instituted an illumination of his material remains. He had an excellent community of 14,000 Śramaṇas with Indrabhūti at their head, 36,000 nuns with Candanā at their head, 159,000 lay votaries with Śaṁkhaśataka at their head, 3,18,000 female lay votaries with Sulasā and Revatī at their head and 300 sages who knew the Pūrvas (collections)[3]. His Lāñchana is a lion.*

To be Continued.

---

1. The ancient Town of Vaiśāli comprised three districts or quarters. Vaiśāli proper (Basarh), Kuṇḍapura (Vasukuṇḍa) and Vaniggrama (Bania), Dey. p. 107.
2. Kalpasūtra.
3. Ibid. pp. 266-67.

Editorial note will appear in the next issue.—K. B. Shastri.

Review.

Annual Report of the Mysore Archaeological Department for the year 1941, edited by Dr. M. H. Krishna, Director of Archaeology, Mysore, pp. 285. Price not stated.

The book under review has been well prepared under the learned guidance of Dr. M.H. Krishna, Professor of History and Archaeology of the Mysore University. Chapters on epigraphy, numismatics, iconography, manuscriptology, library and museum have been carefully planned and discussed elaborately. A thorough study of the report would amply repay the reader to give a detailed history of the state in it sources. The letter of Vira Rajendra Wodeyar, Raja of Koorg, to the British written in 1799A.D. is an interesting study and a historical document of great importance. It is written in Kannada and signed in English. It contains 26 illustrations and a nice index, The state authorities as well as the Director af Archaeology are to be congratulated for undertaking the huge compilation.

Report of the Pudokkottai State Museum for the Fasli Year 1351. pp. 24

There is nothing particular to be noted in it. Like all the reports of the museum it serves its purpose well for the visitors of the museum and especially for the local institutions interested in its preservation and glory. It is been carefully planned by Mr. K. R. Srinivasa Aiyar, the curator of the museum.

D. S. T.

Restraint an important Factor in Ancient Indian Penalogy

By

Prof. Nalina Vilocana Sarma, M. A.

Considered in the light of modern ideas in the field of Penalogy, those embodied in the ancient Sanskrit books dealing with law, prove to have attained to a developed stage, something like which was not even contemplated in Europe till before the end of the eighteenth century. In view of this it is not quite true that "the notion of an offence against the state is of entirely modern growth and the theory that punishment is imposed for the sake of reforming the criminal and detering others from following the example is even still more modern "[1]

The problems which have to be faced in practical penalogy are numerous and intricate. It is doubtful if it has been brought to a satisfactory level even in the most advanced countries. Ancient Indian Penalogy, too, is not without its short comings. It is, however, to its credit that some of the fundamental ideas of modern Penalogy are prescribed unanimously as essential by the ancient law givers of India.

As Kenny[2] sums it up "according to the most generally accepted writers—as, for instance, Beccaria, Blackstone, Romilly, Paley, Feuarbach—the hope of preventing the repetition of the offence is not only a main object, but the sole permissible object, of inflicting criminal punishment." It cannot be claimed that this was the single purpose of punishment in Ancient India. But it is not so either in modern Penalogy. This fact, however, is being accorded gradual recognition in modern times and it formed the main, if not the sole, factor of Ancient Indian Penalogy.

In Europe the sole purpose of punishment was retribution till almost the end of the eighteenth century. Punishment, accordingly,

1. Cherry : Growth of Criminal law in Ancient Communities p. 3.
2. Outlines of Criminal Law p. 30.

was rigid and did not take note of age, sex, circumstances etc. in the least. In India on the contrary, punishment was regarded from the earliest times to be an act about which the authorities should exercise the utmost care and discretion

As already pointed out, the sole factor of European Penalogy was retribution almost up to the end of the eigteenth century. Gautama (c. 600—400 B. C.), on the other hand, derives Daṇḍa from Dam = 'to restrain'[1]. That this is not putting into the mouth of Gautama what he may never have intended is proved by the considerations prescribed by him as necessary before punishment is actually awarded, viz., the consideration of the following facts—the status of the criminal, his physical condition. the nature of his crime and whether the offence has been repeated[2]. Vasiṣṭha improves upon it[3] and Viṣṇu also refers to the point briefly[4].

The idea is put forth clearly in the Bṛhaspati Sutra where Niti (i e. Daṇḍa Niti) is likened to a tree on a river's bank[5] which indicates the limits of the bank as well as holds it firm. In the case of punishment this may be interpreted to show the limit which nobody can cross without meeting restraint from authorities vested with power. It is further laid down that a king versed in Daṇḍa-Nīti should get to know the action suitable to place and time as also good and had policy[6].

Kautilya Arthaśāstra is a strictly practical treatise. Dharma-Sāstra works may be accused of idealism but Kauṭilya—Arthaśāstra escapes the critisism. But this work too agrees completly with the critical attitude taken up by Gautama and others before and after him. It attaches great importance to punishment; as a matter of fact Daṇḍa is said to be the only thing on which depends the well being and progress of the sciences of Ānvikṣaki, the three Vedas and Vārtā.

1. XI 28.
2. XII. 48.
3. XIX. 9—10.
4. III. 91—92.
5. 1. 102.
6. VI. 1.

But he disagrees emphatically with those authorities who hold punishment to be the be-all and end-all of successful administration. If such a rigorous attitude is taken administration is bound to prove unpopular, althogh, it is equally inadvisable to eschew punishment altogether, in which case, disrespect for authority will be engendered in the mind of the people. As such his advice given is to inflict punishment impartially, in tho right manner and with consideration, the only course of action which will lead the people to the Dharma, Artha and Kāma—ends of life[1]. We see here that Kauṭilya deprecates strongly the policy of awarding punishment for the sake of punishment—thus barring the idea of retribution. The general welfare of the people to which punishment should lead according to him further bars any idea of mere 'satisfaction of justice' which is commonly found to be closely associated with the primitive idea of retribution.

Whatever difierence of opinion may have prevailed during or before Kauṭilya, as is clearly manifasted by his reference to authorities holding a different opinion the principal Dharma-Śāstra works are unanimous as far as this basic principle of punishment is concerned.

Manu emphasizes the importanre of the principle in detail and more than once. He emphatically lays down that punishment must be meted out appropriately having carefully considered the time, place, strength and learning of the offender[2]. He includes in his statement the salient features of Gautama and Vaśiṣṭha, the latter of whom is more elaborate on this point than any of the earlier writers. Manu points out its inportance and advantages. It is not only the offender who suffers by the wrong application of punishment but the repercussion is far and wide and all the people may be affected—'When meted out properly after due investigation it makes all people happy; but when meted out without due investigation it destroys all things'[3].

They refer to it in the following chapter when actually prescribing

1. See 1. 1.
2. VII. 16.
3. VII. 19.

punishments for specified offences as a sort of warning for the authority in whom the power to punish is vested[1].

Yājñavalkya, as usual, puts it briefly but without omitting any point of importance. It is interesting to have a summary of this issue in his own words 'The king shall inflict punishment upon those who deserve it, after duly taking into consideration the crime, the place and the time, as also the strength, age, act and wealth of the culprit'[2].

Nārada also emphasizes the point adding only the consideration of motive[3]. Bṛhaspati Smṛti has nothing new to add[4].

Kāmandaka Nītisāra which is rightly regarded as the epitome of Kauṭilyas' treatise versifies the discussion given by his predecessor[5].

The most comprehensive statement is, however, contained in a verse quoted by Vardhamāna which includes in all, the consideration of eleven points before punishment can be awarded. These are (1) taste (2) object (3) amount (4) application of punishment (5) the connections of the offender (6) age (7) pecuniary condition (8) merits (9) place (10) time and (11) the particular offence[6].

The law-givers are not satisfied merely with an idealogical rationalization of the system of awarding punishment. That the actual grades of punishment could be justified only after the aforesaid factors were taken into consideration is clear from the general rule indicating the precedence of types of punishment according to the nature of the oflence. While picking-pockets was a capital offence in the days of Elizabeth and the penalty for stealing five shillings and upwards was transportation even in 1810 in England without any externating considerations the ancient. law-givers definitely lay down that admonition, reproof, fine and corporal

1. VIII. 126, 324.
2. I. 3682.
3. Punishments 38.
4. Quoted in Daṇḍa Viveka p. 20 (Caekwad Oriental Suries).
5. II. 36—39.
6. Daṇḍa Viveka (Gaekwad Oriental Series) p. 36.

punishments should be resorted to one by one and only in very serious cases the strictest punishment should be inflicted *on the first offender*[1].

It is clear from the following study that retribution was not the motive behind the ancient Indian Penalogy. It was, on the other hand, something far more beneficial which took into consideration the interests not only of the wronged individual, society or justice alone but *also of the offender* who may have erred simply because it is human to err.

It is further shown by the provision of a systematic code of Prāyaścitta parallel to and completing the ends of secular punishment. As a high church dignitary of present day England has said, 'severity to the offender may be necessary but it must not represent the vengeance either of the wronged individual or the society although the latter should promptly 'repudiate' the offence of its particular member'. And what is more important after this 'repudiation' has been effectively employed is that every effort should be made for the delinquant member to be again 'restored' to his former condition. This is truly provided for in the system of Prayaścitta, the philosophy and elaborate nature of which has not been given due credit up till now.

We have traced above the gradual and consistent development of the ideas of treating crimes and their perpetrators rationally from the earliest Dharma-Sūtra and Dharma-Śāstra works The ideas can stand comparison with the most modern ones on the question.

The study, however, cannot be complete unless it takes into account the attitude of the Buddhists and the Jainas on this question. The essentially humanitarian systems professed by the Buddhists and the Jainas believe in Ahiṃsa and Forgiveness in the extreme. Buddhist and Jaina rulers, nevertheless, could not be expected to do away with punishment in day to day administration.

The space and time at the disposal of the writer being limited the questions will be discussed in this light in a subsequent paper.

1. Manu VIII, 129—130; Yajū. I. 137; Bṛhaspati (Extract in Daṇḍa Viveka p. 63); A quotation given by Haradtta on Gautama Dh. Sū. 2. 29.

The difference in the order of precedence as prescribed by Manu and Yajñ in respect of admonition and reproof, though nof important, may be noted. The quotation in Haradatta on Gau. Dha. Sū. agrees with the latter while Bṛ. Smṛ. agrees with the former.

RULES.

1. The 'Jaina Antiquary' is an Anglo half-yearly Journal which is issued in two parts, *i.e.*, in June and December.

2 The inland subscription is Rs. 3 (including 'Jain Sidhanta Bhaskara') and foreign subscription is 4*s.* 8*d.* per annum, payable in advance. Specimen copy will be sent on receipt of Rs. 1-8-0.

3. Only the literary and other decent advertisements will be accepted for publication. The rates of charges may be ascertained on application to the Manager, 'Jaina Antiquary' The Jaina Sidhanta Bhavana, Arrah (India) to whom all remittances should be made.

4. Any change of address should also be intimated to him promptly.

5. In case of non-receipt of the journal within a fortnight from the approximate date of publication, the office at Arrah should be informed at-once.

6. The journal deals with topics relating to Jaina history, geography, art, archaeology, iconography, epigraphy, numismatics, religion, literature, philosophy, ethnology, folklore, etc., from the earliest times to the modern period.

7. Contributors are requested to send articles, notes, etc., type-written, and addressed to. K. P. Jain, Esq., M. R. A. S., Editor, 'Jaina Antiquary' Aliganj, Dist Etah (India).

8. The Editors reserve to themselves the right of accepting or rejecting the whole or portions of the articles, notes etc.

9. The rejected contributions are not returned to senders if postage is not paid.

10. Two copies of every publication meant for review should be sent to the office of the journal at Arrah (India).

11. The following are the editors of the journal, who work honorarily simply with a view to foster and promote the cause of Jainology :—

Prof. HIRALAL JAIN, M.A., L·L.B.
Prof. A. N. UPADHYE, M A , D Litt.
B. KAMATA PRASAD JAIN, M.R.A.S.
Pt. K. BHUJABALI SHASTRI, VIDYABHUSANA.

THE PRAŚASTI SAMGRAHA

Edited uy

Pt. K. Bhujabali Śāstri, Vidyābhūsan.

With an introduction by—Mahamahapādhya Dr. R. Shamshastri.

pp. 5+200+25 = 225 Price Rs. 1-8-0

'It is indeed a very valuable reference book, full of information and presented in a neat form.'

Dr. A. N. Upadhya, Kolhapur,

'It is a very useful compilation. very carefully prepared.'

Prof. D, L Narasimhachar, Mysore.

'You are doing real service to culture by publishing notes on literary works on Jainism and other works also hitherto unpublished.

Dr. S. Sheshgiri Rao, Vizianagaram.

'The descriptive catalogue of Sanskrit Mss. will be highly useful publication when completed.

Prof. Chintaharan Chakravarti, Calcutta.

जैन-सिद्धान्त-भवन द्वारा प्रकाशित अन्य ग्रन्थ

(१) मुनिसुव्रतकाव्य [चरित्र]—अर्हद्दास [संस्कृत और भाषा-टीका-सहित]—सं० पं० के० भुजबली शास्त्री तथा पं० हरनाथ द्विवेदी ... २)

(१) ज्ञानप्रदीपिका तथा सामुद्रिकशास्त्र [भाषा-टीका-सहित]—स० प्रो० रामव्यास पाण्डेय, ज्योतिषाचार्य ... ... १)

(३) प्रतिमा-लेख-संग्रह—सं० बा० कामता प्रसाद जैन, एम० आर० ए० एस० ।।)

(४) वैद्यसार—सं० पं० सत्यन्धर, आयुर्वेदाचार्य, काव्यतीर्थ ... ।।।)

(५) तिलोयपण्णत्ती [प्रथम भाग]—सं० डा० ए० एन० उपाध्ये, एम० ए० ... ।।।)

(६) Jaina Literature In Tamil *by* Prof. A. Chakravarti, M A., I. E. S., ... Price Rs. 2

PRINTED BY D. K. JAIN, SHREE SARASWATI PRINTING WORKS, LTD.
ARRAH.